नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 142 • वर्ष 13 • अंक 5
जून 2010 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

भोपाल हत्याकाण्ड

कटघरे में है पूरी पूँजीवादी व्यवस्था

भोपाल पर अदालती फ़ैसले ने नरभक्षी मुनाफ़ाखोर व्यवस्था, पूँजीवादी राजनीति और पूँजीवादी न्याय को नंगा कर दिया है

सम्पादक मण्डल

भोपाल गैस दुर्घटना पर पिछली 7 जून को आये अदालत के फ़ैसले ने पूँजीवादी न्याय की कलई तो खोली ही है, इसके बाद मीडिया के ज़रिये शुरू हुए भण्डाफोड़ और आरोप-प्रत्यारोप के सिलसिले ने पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के आदमख़ोर चरित्र को नंगा करके रख दिया है। कम से कम 20,000 लोगों को मौत के घाट उतारने और पौने छह लाख लोगों को विकलांग और घातक बीमारियों से ग्रस्त बना देने वाली इस भयानक दुर्घटना के लिए ज़िम्मेदार यूनियन कार्बाइड कम्पनी के 8 पूँजीपतियों को भोपाल की एक अदालत ने महज़ 2-2 साल की सज़ा सुनाकर छोड़ दिया। इतना ही नहीं, दो घण्टे के भीतर ही उन सबकी ज़मानत भी हो गयी और वे हँसते हुए घर चले गये।

दरअसल, इंसाफ़ के नाम पर इस घिनौने मज़ाक़ की बुनियाद तो 14 साल पहले ही रख दी गयी थी जब 1996 में भारत के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश जस्टिस अहमदी ने यूनियन कार्बाइड के ख़िलाफ़ आरोपों को बेहद हल्का बना दिया था। इस "सेवा" के बदले उन्हें यूनियन कार्बाइड के पैसे से भोपाल गैस पीड़ितों के नाम पर बने ट्रस्ट का आजीवन अध्यक्ष बनाकर पुरस्कृत किया गया। आज जस्टिस अहमदी कुतर्क कर रहे हैं कि क़ानूनी दायरे के भीतर उनके पास और कोई विकल्प ही नहीं था। वह भारत के प्रधान न्यायाधीश थे, क्या उन्हें इतनी मोटी-सी बात समझ नहीं आ रही थी कि दुनिया की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना के दोषियों पर मामूली मोटर दुर्घटना पर लागू होने वाले क़ानून के तहत मुक़दमा दर्ज करना क़ानून का ही मज़ाक़ है? इस क़ानून में दो साल से ज़्यादा की सज़ा दी ही नहीं जा सकती है। अगर वे चाहते तो देश की संसद को ऐसे मामलों के लिए विशेष क़ानून बनाने की सलाह दे सकते थे। सरकार की नीयत अगर साफ़ होती तो वह 1984 के बाद ही जल्द से जल्द विशेष अध्यादेश लाकर भोपाल के हत्यारों पर कठोर कार्रवाई कर सकती थी। उल्टे, क़दम-क़दम पर मुक़दमे को कमज़ोर किया जाता रहा। केन्द्र सरकार के इशारे पर काम करने वाली सीबीआई ने मुक़दमे की पैरवी से लेकर यूनियन कार्बाइड के अमेरिकी प्रमुख वारेन एण्डरसन को भारत लाने तक में स्पष्टत: जानबूझकर ढिलाई बरती।

जनता के सच्चे प्रतिनिधियों की कोई भी सरकार ऐसा भीषण हत्याकाण्ड रचने वाली कम्पनी की देश में सारी सम्पत्ति को तत्काल ज़ब्त कर लेती। होना तो यह चाहिए था कि यूनियन कार्बाइड अगर भारी हरज़ाना देने में आना-कानी करती तो उसकी सम्पत्तियों को बेचकर यह धन उगाहा जाता और गैस पीड़ितों को मुआवज़े, उनके इलाज तथा पुनर्वास और भोपाल की मिट्टी-पानी में फैले ज़हर की सफ़ाई का बन्दोबस्त किया जाता। लेकिन इतना तो दूर, भारत सरकार ने कई वर्ष बाद, कम्पनी के साथ एक शर्मनाक समझौता किया जिसके तहत उसने सिर्फ़ 47 करोड़ डॉलर देकर भोपाल के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया। दुनिया में शायद पहली बार ऐसा हुआ होगा कि किसी अपराधी पर जुर्माने की रक़म उसकी मर्ज़ी से तय की गयी हो।

इतना ही नहीं, भोपाल में कार्बाइड के ख़ूनी कारख़ाने में आज भी हज़ारों टन ज़हरीला कचरा पड़ा है जिसकी सफ़ाई पर ही अरबों रुपये का ख़र्चा आयेगा। पहले कार्बाइड और फिर उसे ख़रीदने वाली डाउ केमिकल्स नाम की अमेरिकी कम्पनी लगातार इसकी ज़िम्मेदारी लेने से इंकार करती रही हैं। भारत सरकार ने कई साल बाद दबी ज़ुबान से इस काम के लिए 100 करोड़ रुपये की माँग तो की, लेकिन कभी इस पर ज़ोर नहीं दिया। और अब यह बात भी सामने आ गयी है कि सरकार ने डाउ केमिकल्स को आश्वासन दिया था कि भारत में निवेश के बदले उसे इस ज़िम्मेदारी से बरी कर दिया जायेगा। यानी कार्बाइड के ज़हरीले कचरे की सफ़ाई भी सरकारी पैसे से, यानी ग़रीबों की जेब से खसोटे गये पैसे से की जायेगी। सरकार की नज़र तो डाउ जैसी दैत्याकार रासायनिक कम्पनियों द्वारा भारत में 70,000 करोड़ रुपये के सम्भावित पूँजी निवेश पर टिकी है। हरज़ाने की माँग करके उन्हें नाराज़ करने का जोखिम भला वह क्यों उठायेगी। दरअसल यह सारा खेल ही पूँजी का है। इसके लिए अपनी जनता के हत्यारों के आगे नाक रगड़ने में सरकार को कोई परेशानी नहीं है।

कार्बाइड के प्रमुख वारेन एण्डरसन को भारत से भगाने के मामले में तत्कालीन सरकारों ने जिस बेशर्मी का परिचय दिया उस पर नफ़रत से थूका ही जा सकता है। जिस वक़्त भोपाल में लाशों के ढेर लगे थे और हज़ारों घायल और विकलांग लोगों से शहर के अस्पताल पटे पड़े थे, उसी समय राज्य की सरकार इस हत्यारे को गिरफ़्तार कर लेने की "ग़लती" का प्रायश्चित करने और उसे ससम्मान अमेरिका भेजने में लगी हुई थी। एण्डरसन को भोपाल पहुँचते ही गिरफ़्तार कर लिया गया था, लेकिन छह घण्टे में ही उसकी न सिर्फ़ ज़मानत हो गयी, बल्कि सरकार के विशेष हवाई जहाज़ से उसे दिल्ली ले जाया गया जहाँ से वह उसी दिन अमेरिका भाग गया। उसके बाद वह कभी अदालत में हाज़िर ही नहीं हुआ। उस समय मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री रहे अर्जुन सिंह अब कह रहे हैं कि भोपाल में क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिए ऐसा करना ज़रूरी था, वरना लोगों का गुस्सा भड़क जाता। वित्त मन्त्री प्रणव मुखर्जी भी ऐसी ही बात कह रहे हैं। पूँजी के इन बेशर्म चाकरों से कोई यह पूछे कि अगर उसे भोपाल से बाहर ले जाना ज़रूरी भी था, तो देश से बाहर क्यों जाने दिया गया। वैसे अब यह सच्चाई भी उजागर हो चुकी है कि एण्डरसन को पहले ही आश्वासन दे दिया गया था कि उसे सुरक्षित वापस जाने दिया जायेगा। ज़ाहिर है, प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी की मर्ज़ी के बग़ैर ऐसा मुमकिन नहीं था। आज राजीव गाँधी का नाम आते ही कांग्रेस की पूरी चमचा मण्डली सफ़ाई देने में जुट गयी है। लेकिन यहाँ सवाल व्यक्तियों का है ही नहीं। पूँजीवादी सरकारें पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी होती हैं और पूँजीपतियों तथा उनके हितों की रक्षा करना उनका परम धर्म होता है। अमेरिकी सत्ता अमेरिकी पूँजी की प्रतिनिधि है और उसने एण्डरसन की रिहाई के लिए दबाव डाला और भारतीय पूँजी के प्रतिनिधियों की क्या मजाल थी, जो लूट के खेल के अपने सीनियर पार्टनर की बात नहीं मानते।

और बात सिर्फ़ एण्डरसन की नहीं है। कार्बाइड की भारतीय सब्सिडयरी के प्रमुख केशव महिन्द्रा सहित सभी बड़े अधिकारी कठोरतम सज़ा के हक़दार थे। मगर उनको बचाने के लिए भारत का पूरा सत्ता तंत्र तन-मन से लगा हुआ था।

आज बहुतेरे लोगों को ठीक से पता नहीं है कि 2 दिसम्बर, 1984 की उस भयावह रात को क्या हुआ था, और क्यों हुआ था। उसे जानने के बाद बिल्कुल साफ़ हो जाता है कि यह महज़ एक दुर्घटना नहीं थी, मुनाफ़े की अन्धी हवस के हाथों हुई ठण्डी हत्या थी।

आज से 26 साल पहले 2 दिसम्बर 1984 की रात को अमेरिकी कम्पनी यूनियन कार्बाइड की भोपाल स्थित कीटनाशक फ़ैक्टरी से निकली चालीस टन ज़हरीली गैसों ने हज़ारों सोये हुए लोगों का क़त्लेआम किया था। उस दिन क़रीब साढ़े ग्यारह बजे रात में कारख़ाने से गैस का रिसाव शुरू हुआ। फ़ैक्टरी के चारों ओर मेहनतकश लोगों की बस्तियों में दिनभर की मेहनत से थके

(पेज 3 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

मज़दूर प्रेमचन्द उर्फ़ पप्पू की मौत महज़ एक हादसा नहीं – 3
कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? – 4
बादाम मज़दूरों का ऐतिहासिक आन्दोलन और मज़दूर आन्दोलन की भावी दिशा – 5
यूनानी मज़दूरों और नौजवानों के जुझारू आन्दोलन के सामने विश्व पूँजीवाद के मुखिया मजबूर – 6
लूट की खुली छूट – छत्तीसगढ़ की औद्योगिक नीति – 9
चीन में मज़दूर संघर्षों का नया उभार – 12

मालिकों के लिए हम सिर्फ़ मुनाफ़ा पैदा करने की मशीन के पुर्ज़े हैं

दिल्ली के बादली औद्योगिक क्षेत्र के दो मज़दूरों की आपबीती

दोस्तो एक दर्दभरी कहानी आपको सुनाता हूँ। एक मेहनतकश नौजवान की कहानी, जो अपना गाँव-देश छोड़कर दिल्ली में कुछ कमाने के लिए आया था, पर उसे क्या पता था कि पूँजीपतियों की इस बर्बर लूट में उसका हाल ऐसा हो जायेगा कि वह ज़िन्दगीभर के लिए किसी और के सहारे का मोहताज हो जायेगा। उस नौजवान का नाम मो. नाज़िम है, जो बिहार का रहने वाला है। पिता का साया सिर से बचपन में ही उठ गया था। अपनी माँ का इकलौता बेटा और अपनी तीन बहनों का अकेला भाई दिल्ली आया था एक सपना लेकर कि ख़ूब कमाऊँगा और अपनी बहनों की शादी करूँगा। यही सपना लेकर उसने एक चम्मच फ़ैक्टरी में काम पकड़ा। 2200 रुपये महीने के हिसाब से ख़ूब जीतोड़ मेहनत करता था। हर दूसरे-तीसरे दिन नाइट भी लगा लेता था और सण्डे को छुट्टी भी नहीं करता था। ओवरटाइम भी लगाता था और यही कहता था कि एक दिन मशीन सीख लेगें, तो कारीगर बन जायेंगे। और बाबूजी कहते – बेटा मशीन पर ध्यान लगाकर सीख ले, तेरी तनख़्वाह बढ़ा दूँगा। और वह अपना ज़्यादातर ध्यान मशीनों में ही लगाने लगा। उसे काम सीखते-सीखते तीन साल बीत गये और आज वह एक कुशल कारीगर बन गया। मालिक ने भी उसकी तनख़्वाह 2200 रुपये से 2300 रुपये, 2500 रुपये से 2700 रुपये करते हुए, आज उसे कुशल कारीगर होने के नाते 3000 रुपये देने लगा। एक दिन वह पावर प्रेस की मशीन चला रहा था। मशीन पुरानी थी, मिस्त्री उसे ठीक तो कर गया था, लेकिन चलने में उसमें कुछ दिक्कत आ रही थी। तो उस नौजवान ने सोचा चलो मालिक को बता दे कि यह मशीन अब ठीक होने लायक़ नहीं रह गयी है। जैसे ही वह उठा, खुली हुई मशीन की गरारी में उसका स्वेटर फँस गया और मशीन ने उसकी बाँह को खींच लिया। स्वेटर को फाड़ती हुई, माँस को नोचती हुई मशीन से उसकी हड्डी तक में काफ़ी गहरी चोट आयी। अगर उसके बगल वाले कारीगर ने तुरन्त उठकर मशीन बन्द नहीं कर दी होती तो वह उसकी हड्डी को भी पीस देती! उसके ख़ून की धार बहने लगी, पूरी फ़ैक्ट्री में निराशा छा गयी। चूँकि उसका ई.एस.आई. कार्ड नहीं बना था। इसलिए मालिक ने एक प्राइवेट अस्पताल में उसे चार-पाँच दिन के लिए भर्ती कराया और कोई भी पुलिस कार्रवाई नहीं हुई। कोई हाल-चाल पूछने जाये तो किसी को कुछ भी बताने से मना कर देता और कहता, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो!! शायद वह इसलिए नहीं बता रहा था कि कहीं मालिक को पता न लग जाये और वह जो कर रहा है, कहीं वह भी करना बन्द न कर दे।

तो देखा साथियो आपने, ये सिर्फ़ एक मो. नाज़िम की कहानी नहीं है, ऐसे हमारे सैकड़ों साथी रोज़ कटते-मरते रहते हैं और आज उनके लिए मालिकों के ख़िलाफ़ कोई लड़ने वाला नहीं है। और शायद सभी पूँजीपति भी यह जानते हैं। इसलिए वह हम मज़दूरों के साथ मनमाना व्यावहार करता है और बात-बात पर डाँटना, गाली देना, काम से निकाल देने की धमकी देना ये उसकी सहज प्रक्रिया बन गयी है। साथियो, हम लोगों को इन पूँजीपतियों से लड़ने के लिए अपना मज़बूत संगठन बनाना होगा।

आपका भाई, बादली औद्योगिक क्षेत्र, दिल्ली

गाँव में दिल्ली के बारे में सुन रखा था कि राजधानी में हर हाथ के लिए काम है और वहाँ पैसा भी काफ़ी मिलता है। इसीलिए मैं भी अपना गाँव कन्नौज छोड़कर रोज़गार के लिए दिल्ली आ गया था। दिल्ली आकर शहर की चमक-दमक देखी, बड़ा अच्छा लगा। उसके बाद दिल्ली के बादली औद्योगिक क्षेत्र की एक फ़ैक्ट्री में काम पर लग गया। फ़ैक्ट्री में जाने पर पता चला कि यहाँ मजदूरों को 2200-2300 रुपये में काम करना पड़ता है। बहुत भारी काम तथा पत्ती वाली फ़ैक्ट्रियों में, जिनमें भट्ठी जलती है, मुश्किल से 3000 रुपये मिलते हैं। बादली औद्योगिक क्षेत्र के पीछे बसी मज़दूर बस्ती राजा विहार में मैंने एक कमरा लिया, जिसका किराया 830 रुपये तथा बिजली का पैसा अलग से। मैं बादली औद्योगिक क्षेत्र की फ़ैक्टरी एस 106, फ़ेज 1 में काम पर लगा था। जिसमें चम्मच बनती है। इस फ़ैक्ट्री में बहुत बड़ी-बड़ी मशीनें लगी हैं। किसी की क्षमता 10 टन है तो किसी की 50 टन। मज़बूत से मज़बूत लोहे को भी पलक झपकाते ही काट देने वाली मशीनें। ख़ैर, अब आपको बताते हैं कि विकसित दिल्ली में मज़दूरों का क्या हाल है! मैं एस 106, फ़ेज 1 में 2500 रुपये तनख़्वाह तथा रोज़ ढाई घण्टे ओवरटाइम लगाता था। कभी-कभी मेरी रात में डबल ड्यूटी भी लग जाती थी। इस तरह से मैं महीने में क़रीब 3500 रुपये कमा लेता था। इसमें से 1100 रुपये किराया और बिजली का तथा लगभग आठ-नौ सौ रुपये खाने पर ख़र्च होता था। अकेला था इसलिए और कोई ख़र्चा नहीं था। तीन-चार महीने ड्यूटी करने के बाद मेरी तबीयत एकदम ख़राब हो गयी, जिसकी वजह से मैं ड्यूटी नहीं जा पाया। एक डाक्टर को दिखाने गया तो उसने कहा कि ख़ून की जाँच कराओ, उसके बाद ग्लूकोज की बोतल चढ़ा दी। ख़ून की जाँच के बाद पता चला कि मुझे मलेरिया हो गया है। दो-तीन दिन के इलाज में डाक्टर ने छः-सात सौ रुपये ले लिये। तबीयत ख़राब होने की वजह से मैं फ़ैक्ट्री भी नहीं जा पाया तथा डाक्टर ने फल और दूध खाने-पीने को कहा। धीरे-धीरे मेरी सारी बचत ख़र्च हो गयी। अब रुपये कहाँ से लाऊँ? फिर सोचा, चलो फ़ैक्ट्री मालिक से माँग लेता हूँ, मेरे दस-बारह दिन काम के पैसे रह गये हैं।

मैं फ़ैक्टरी मालिक के पास गया और बताया कि बाबूजी मेरी तबीयत बहुत ख़राब है, रुपयों की सख़्त ज़रूरत है। मालिक बोला कि अभी तो तनख़्वाह ले गया था, उसके बाद से काम पर भी नहीं आया। अब आकर नाटक कर रहा है, तेरी तबीयत का मैंने क्या ठेका ले रखा है? अभी रुपये नहीं है, काम पर आना है तो आ जा नहीं तो अगले महीने आकर हिसाब ले जाना। और उन्होंने मुझे भगा दिया। जहाँ मैंने अपना ख़ून-पसीना एक करके रात-दिन मज़दूरी की, वहाँ से मुझे भगा दिया गया!

तो साथियो, ऐसा सिर्फ़ मेरे साथ नहीं हुआ है, ऐसा रोज़ हज़ारों मज़दूरों के साथ होता है, क्योंकि सभी मालिक जानते हैं कि मज़दूर कर ही क्या सकता है। भाइयो-साथियो, इस तरह के तमाम अन्याय चुपचाप बर्दाश्त करने के बजाय, आओ, हम सभी लोग मिलकर अपना संगठन बनायें।

आपका मज़दूर साथी
आनन्द
बादली औद्योगिक क्षेत्र, दिल्ली

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकायें उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं। वेबसाइट का पता :

http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता :

http://bigulakhbar.blogspot.com

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237
सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94
ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए बिगुल कार्यालय को लिखिये।

साथी दूधनाथ

लाल सलाम! कहीं से आपके सम्पादकीय नेतृत्व में आपके संगठन के द्वारा निकाले जानी वाला बिगुल पढ़ने का मौक़ा मिला। बहुत अच्छा लगा। मेरे पते पर बिगुल भेजने की कोशिश करेंगे। अगर सम्भव हो सके तो कॉ. लेनिन तथा कॉ. स्तालिन के नेतृत्व (1917 से 1953 तक) वाला रूसी संविधान (हिन्दी) भेजने की कोशिश करेंगे। साथी माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में 1949 से 1978 तक चीनी (हिन्दी) संविधान की प्रति भेजने की कोशिश करेंगे। जो क़ीमत लगेगा, वह मनीऑर्डर द्वारा भेज दूँगा। मुझे पता चला है कि आप रूसी तथा चीनी साहित्य का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित करने की कोशिश में हैं।

अत: आपसे नम्र निवेदन है कि साथी लेनिन की पुस्तकें जो 54 भागों में छपी हैं। अगर धीरे-धीरे उनका हिन्दी रूपान्तर भी किया जाता, जो हिन्दी के मज़दूर वर्ग को मज़दूर वर्ग आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर से तीव्रतम करने में प्रहरी का कार्य करेगा। बिगुल के प्रचार-प्रसार में भाग लेने वाले साथी क्रान्तिकारी अभिनन्दन।

आपका साथी – विजय कुमार सिंह
क्वार्टर बी III/74, पावर सप्लाई कॉलोनी
मूनीडीह, धनबाद, झारखण्ड

जब बहुसंख्यक श्रमिक जन हो श्रमरत
करें उत्पादन कि कम पड़े भण्डार घर
बदले में पाए श्रम का मोल इतना कमतर
कि बस जीवन चले घिसट-घिसट कर
और मालिक वर्ग क़ब्ज़ा जमाये उत्पादन पर
लगा मोहल बेचे ऊँचे दाम चढ़ाकर
मुनाफ़े की लूट मचाये दिन रात
पल प्रतिपल दिशा-देशान्तर
खड़ी कर ऊँची मीनारें
करे धन संचय अति भयंकर
कला-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान का मालिक बनकर
धर्म के धुएँ की चादर फैलाकर
जब न्याय, इंसाफ़ क़ानून बन जाये
कुछ लोगों की मिलकियत
जब याचना की अर्जी
फ़ाइलों के तले दब जाये
जब ज़िन्दा रहने की शर्त
कमरतोड़ मेहनत के बराबर हो जाये
तब तुम्हारी उपस्थिति को किस तरह आँका जाये?
तुम्हारी चुप्पी का क्या अर्थ निकाला जाए
क्योंकि चुप रहने का भी मतलब होता है
तटस्थ होता कुछ भी नहीं

– गौरव, नोएडा

बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :
- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522 2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- ज़ाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली - फ़ोन : 09213639072
- जनचेतना, लुधियाना - फ़ोन : 09815587807

टेक्सटाइल मज़दूर प्रेमचन्द उर्फ़ पप्पू की मौत महज़ एक हादसा नहीं

कारख़ाना मालिकों की मुनाफ़े की हवस और लापरवाही का अगला शिकार कहीं आप तो नहीं?

4 जून को शाम सात बजे ताना मास्टर प्रेमचन्द उर्फ़ पप्पू ज़िन्दगी की लड़ाई हार गया। मशीन में करण्ट आने के कारण पप्पू की मौत हो गयी। साथी मज़दूरों ने बहुत कोशिश की उसे बचाने की। मालिश की, अस्पताल लेकर गये लेकिन पप्पू को बचा नहीं पाये। यह घटना टी. एस. टेक्सटाइल, शक्ति नगर, टिब्बा रोड की है। पप्पू की मौत के बाद मालिक आनन-फ़ानन में बीस हज़ार देकर मामले को निपटाना चाहता था, लेकिन शक्ति नगर के मज़दूरों और प्रेमचन्द के मुहल्ले वालों के कड़े रुख़ के कारण मालिक को दो लाख रुपये मुआवज़े के रूप में देने पड़े। कारीगरों द्वारा कारख़ाने बन्द करके धरना लगाया जाना प्रशंसनीय क़दम था, जिसकी बदौलत ही पप्पू के परिवार को मुआवज़ा मिला।

इस घटना की आशंका तो कुछ दिन पहले ही हो गयी थी, जब एक कारीगर को करण्ट लगा था। उसने मालिक को इसकी जानकारी भी दी थी, लेकिन मालिक ने इस बात को अनदेखा कर दिया। पप्पू की मौत का पता चलने पर 'कारख़ाना मज़दूर यूनियन' ने पप्पू के परिवार से सम्पर्क किया और उन्हें साथ देने का भरोसा दिलाया। अगले दिन सुबह 'कारख़ाना मज़दूर यूनियन' के नेतृत्व में मज़दूरों ने कारख़ाने बन्द करने शुरू कर दिये और नारे लगाते हुए मार्च करते हुए गली-गली घूमकर शक्ति नगर के लगभग सभी 32 कारख़ाने बन्द करवाये और मज़दूरों को साथ लेकर टी.एस. टेक्सटाइल के गेट पर धरना दिया। यह ऐलान किया गया कि जब तक पप्पू को इंसाफ़ नहीं मिल जाता, अन्तिम संस्कार नहीं हो जाता, तब तक कोई कारख़ाना नहीं चलेगा। मज़दूरों के इस दृढ़ फ़ैसले का ही असर था कि जो मालिक पहले मुआवज़े के नाम पर सिर्फ़ बीस हज़ार रुपये दे रहा था, वह दो लाख रुपये देने को राजी हुआ। यह मज़दूरों की अपने साथी के प्रति वर्गीय भावना का प्रतीक थी। पप्पू के अन्तिम संस्कार में लगभग 300 मज़दूर 'कारख़ान मज़दूर यूनियन' की अगुवाई में नारे लगाते हुए तीन किलोमीटर का पैदल मार्च करते हुए श्मशान घाट पहुँचे और अपने साथी को अन्तिम विदाई दी।

बेशक दो लाख रुपये किसी इंसान की क़ीमत नहीं होती और न ही पप्पू के चार छोटे-छोटे बच्चों की ज़िन्दगी की ज़रूरतें पूरी करने के लिए काफ़ी हैं, लेकिन इस घटना ने मालिकों की नज़र में एक मज़दूर की क्या हैसियत है इस तथ्य को बख़ूबी उजागर किया है।

मज़दूरों के साथ होने वाली ऐसी घटनाओं के मुख्य दोषी एक तो, कारख़ाना मालिक हैं, जो कारख़ानों में मज़दूरों की सुरक्षा की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देते। टी. एस. टेक्सटाइल में शाल बनाने का काम होता है। अन्य कारख़ानों की तरह ही यहाँ भी पीस रेट पर काम होता है। कारख़ाने में मज़दूरों का पहचान पत्र, हाज़िरी कार्ड, ई.एस.आई., पीएफ़., बोनस, छुट्टी आदि से सम्बन्धित कोई भी क़ानून लागू नहीं है। इसी तरह लुधियाना के अन्य अनेक कारख़ानों में मालिकों का जंगलराज चलता है।

दूसरे दोषी लेबर अधिकारी हैं जो मोटी-मोटी तनख़्वाहें तो जनता पर टैक्स लगाकर इकट्ठा हुए ख़ज़ाने से लेते हैं, लेकिन सरेआम मालिकों का पक्ष लेते हैं। कोई भी लेबर अधिकारी कारख़ानों में मज़दूरों के हालात की जानकारी लेने नहीं आता। अगर आता है तो सिर्फ़ कारख़ाना मालिकों से मज़दूरों की लूट में से अपना हिस्सा लेने। उपरोक्त दुर्घटना के बाद भी कोई लेबर अधिकारी नहीं पहुँचा जो पीड़ित परिवार को उचित मुआवज़ा दिलाता। होना तो यह चाहिए था कि कारख़ानों में सुरक्षा इन्तज़ामों की पड़ताल करके दोषी मालिकों के ख़िलाफ़ ज़रूरी कार्रवाई की जाती।

लेबर विभाग की कार्यप्रणाली पर हैरानी तब अधिक बढ़ गयी जब 'कारख़ाना मज़दूर यूनियन' की अगुवाई में 9 जून को लेबर दफ़्तर पर प्रदर्शन करके कारख़ानों में सुरक्षा इन्तज़ामों की चैकिंग करने और लेबर क़ानून लागू करवाने के लिए माँगपत्र सौंपा गया। मौक़े पर मौजूद अधिकारियों ने बताया कि लुधियाना में 1991 के बाद फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर की पोस्ट ख़ाली पड़ी है। एरिया ए में भी एडीशनल लेबर इंस्पेक्टर है जो सिर्फ़ सप्ताह में दो दिन ही आता है। इससे सरकार का मज़दूरों के प्रति रवैया एकदम स्पष्ट है। मज़दूरों को मालिकों के आगे मेहनत की लूट करवाने के लिए फेंका जा रहा है। लगातार कारख़ाना मालिकों की गुण्डागर्दी बढ़ती जा रही है। इसमें पुलिस भी मालिकों का साथ दे रही है। इसका उदाहरण है शक्ति नगर में ही स्थित प्रीतम बाजवा कारख़ाने के मालिक के लड़के लाडी द्वारा भद्र नाम के मज़दूर की पिटाई करके दाँत तोड़ने के बाद रात को ज़बरदस्ती कारख़ाने में बन्द करके काम करवाने की घटना। इस सम्बन्ध में पुलिस थाना बस्ती जोधेवाल में मालिक के ख़िलाफ़ यूनियन ने शिकायत की, लेकिन अभी तक पुलिस मालिक के ख़िलाफ़ कोई ठोस कार्रवाई नहीं कर रही है।

ऐसे ही कारणों के चलते मज़दूर के साथ कारख़ानों में मारपीट, मालिकों द्वारा काम करवाकर पैसे न देना, मनमर्जी से काम से निकाल देना और कारख़ानों में होते हादसों में मज़दूरों की मौतों की संख्या में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। आख़िर इस जंगलराज को कब तक सहन किया जाता रहेगा? पता नहीं मालिकों की मुनाफ़े की हवस का अगला शिकार कौन होगा? न्यू शक्ति नगर के पावरलूम कारख़ानों के मज़दूरों ने इस बात को समझ लिया है कि अगर अकेले-अकेले रहे तो मार खाते रहेंगे। मिलकर एकता बनाकर ही मालिकों, गुण्डों और पुलिस की गुण्डागर्दी का सामना कर सकते हैं। मज़दूरों को अब अपना पक्ष चुनना ही होगा कि पप्पू की तरह ही किसी दिन किसी हादसे का शिकार होना है या अपनी और अपने बच्चों की बेहतर ज़िन्दगी और स्वाभिमान से जीने की एकजुट लड़ाई लड़नी है।

– राजविन्दर

कटघरे में है पूरी पूँजीवादी व्यवस्था

(पेज 1 से आगे)

लोग सो रहे थे। देखते ही देखते 40,000 किलो ज़हरीली गैसों के बादलों ने भोपाल शहर के 36 वार्डों को ढँक लिया। इनमें सबसे अधिक मात्रा में थी दुनिया की सबसे ज़हरीली गैसों में से एक मिथाइल आइसोसाइनेट यानी एमआईसी गैस। गैस का असर इतना तेज़ था कि चन्द पलों के भीतर ही सैकड़ों लोगों की दम घुटने से मौत हो गयी, हज़ारों लोग अन्धे हो गये, बहुत सी महिलाओं का गर्भपात हो गया, हज़ारों लोग फेफड़े, लीवर, गुर्दे, या दिमाग़ काम करना बन्द कर देने के कारण मर गये या अधमरे-से हो गये। बच्चों, बीमारों और बूढ़ों को तो घर से निकलने तक का मौक़ा नहीं मिला। हज़ारों लोग महीनों बाद तक तिल-तिल कर मरते रहे और क़रीब छह लाख लोग आज तक विकलांगता और बीमारियों से जूझ रहे हैं। यह गैस इतनी ज़हरीली थी कि पचासों वर्ग किलोमीटर के दायरे में मवेशी और पक्षी तक मर गये और ज़मीन और पानी तक में इसका ज़हर फैल गया। जो उस रात मौत से बच गये, वे छब्बीस बरस बीत जाने के बाद भी आज तक तरह-तरह की बीमारियों से जूझ रहे हैं। इस ज़हर के असर से कई साल बाद तक उस इलाक़े में पैदा होने वाले बहुत से बच्चे जन्म से ही विकलांग या बीमारियों से ग्रस्त होते रहे। आज भी वहाँ की ज़मीन और पानी से ज़हर का असर ख़त्म नहीं हुआ है।

लेकिन यह कोई दुर्घटना नहीं थी! यह मुनाफ़े के लिए पगलाये पूँजीवाद के हाथों हुआ एक और हत्याकाण्ड था।

यूनियन कार्बाइड के देशी और विदेशी मैनेजमेण्ट को अच्छी तरह मालूम था कि ऐसी दुर्घटना कभी भी हो सकती है, लेकिन उन्हें लोगों की जान पर ख़तरे की नहीं, सिर्फ़ और सिर्फ़ अपने मुनाफ़े की चिन्ता थी। उन्होंने एक के बाद एक ऐसे क़दम उठाये जो भोपाल के लोगों को मौत की ओर धकेलते रहे।

भोपाल में लगाये गये कीटनाशक कारख़ाने की टेक्नोलॉजी बेहद पुरानी पड़ चुकी थी और ख़तरनाक होने के कारण अमेरिका में उसे ख़ारिज किया जा चुका था। सबकुछ जानते हुए भी भारत के सत्ताधारियों ने उसे लगाने की इजाज़त दी। एमआईसी इतनी ज़हरीली और ख़तरनाक गैस होती है कि उसे बहुत थोड़ी मात्रा में ही रखा जाता है। लेकिन पैसे बचाने के लिए कार्बाइड कारख़ाने में उसका इतना बड़ा भण्डार रखा गया था, जो एक शहर की आबादी को ख़त्म करने के लिए काफ़ी था। ऊपर से कम्पनी के मैनेजमेण्ट ने पैसे बचाने के लिए सुरक्षा के सारे इन्तज़ामों में एक-एक करके कटौती कर डाली थी। इस गैस को शून्य से पाँच डिग्री तापमान पर रखना ज़रूरी होता है, लेकिन कुछ हज़ार रुपये बचाने के लिए गैस टैंक का कूलिंग सिस्टम छह महीने पहले से बन्द कर दिया गया था। एमआईसी गैस के टैंक का मेनटेनेंस स्टाफ़ घटाकर आधा कर दिया गया था। यहाँ तक कि गैस लीक होने की चेतावनी देने वाला सायरन भी बन्द कर दिया गया था। कारख़ाने में काम करने वाले मज़दूर जानते थे कि भोपाल शहर मौत के सामान के ढेर पर बैठा है, लेकिन उनकी किसी ने नहीं सुनी। शहर के एक अख़बार ने एक साल पहले से चेतावनी दी थी कि ऐसी कोई भयानक घटना कभी भी हो सकती है। मगर कम्पनी के मालिकान और मैनेजमेण्ट सबकुछ जानते हुए भी सिर्फ़ पैसे बचाने के हथकण्डों में लगे रहे। जिस दिन ज़हरीली गैस मौत बनकर भोपाल के लोगों पर टूटी, उस दिन इन सफ़ेदपोश क़ातिलों में से किसी को खरोंच भी नहीं आयी। वे फ़ैक्टरी एरिया से कई किलोमीटर दूर अपने आलीशान बँगलों में, और मुम्बई तथा अमेरिका में आराम से बैठे थे।

पूँजी के इस हत्याकाण्ड के बाद देश की सरकारों ने अपने ही नागरिकों के साथ जो सलूक किया, वह इससे कम बर्बर और अमानवीय नहीं है। पिछले छब्बीस साल से भोपाल के गैस पीड़ितों के साथ एक घिनौना मज़ाक़ जारी था। इसमें सब शामिल रहे हैं – केन्द्र और राज्य की कांग्रेस, भाजपा और संयुक्त मोर्चा की सरकारें और सुप्रीम कोर्ट से लेकर निचली अदालतों तक पूरी न्यायपालिका और स्थानीय नौकरशाही।

इस फ़ैसले से देश में फैली गुस्से की लहर से घबरायी सरकार ने अब मामले पर लीपापोती करने के लिए मन्त्रियों का समूह गठित करने और सुप्रीम कोर्ट में फिर से मुक़दमा चलाने की बातें शुरू कर दी हैं। लेकिन देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा में जी-जान से जुटी इस सरकार की असली मंशा जगजाहिर है।

आज तमाम टीवी चैनल और अख़बार भोपाल को लेकर जो ताबड़तोड़ ख़बरें दे रहे हैं, उसके पीछे जनहित की चिन्ता नहीं, टीआरपी और सर्कुलेशन की होड़ की चिन्ता है। वरना इतने बरसों में किसी को भोपाल की याद क्यों नहीं आयी। कोई नयी मसालेदार ख़बर मिलते ही ये सब एक बार फिर भोपाल को भूलकर उसके पीछे लग जायेंगे।

भोपाल की घटना बार-बार यह याद दिलाती है कि ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा बटोरने की अन्धी हवस में पागल पूँजीपतियों के लिए इंसान की ज़िन्दगी का कोई मोल नहीं होता। पूँजीवाद युद्ध के दिनों में हिरोशिमा और नागासाकी को जन्म देता है और शान्ति के दिनों में भोपाल जैसी त्रासदियों को। यह पर्यावरण को तबाह करके पूरी पृथ्वी को विनाश की ओर धकेल रहा है। इस नरभक्षी व्यवस्था का एक-एक दिन मनुष्यता पर भारी है। इसे जल्द से जल्द मिट्टी में मिलाकर ही धरती और इंसानियत को बचाया जा सकता है। और यह ज़िम्मेदारी इतिहास ने मज़दूर वर्ग के कन्धों पर सौंपी है।

भोपाल बनाम ग्रेज़ियानो – एक संक्षिप्त तुलना

घटना

भोपाल – 2-3 दिसम्बर, 1984 की रात को अमेरिकी कम्पनी की भारतीय सहायक कम्पनी (यू.सी.आई.एल.) के प्लाण्ट से ज़हरीली गैस के रिसाव से लगभग 20,000 लोगों की मौत और लाखों लोग प्रभावित।

ग्रेज़ियानो – ग्रेटर नोएडा स्थित इटली की ग्रेज़ियानो कम्पनी के मज़दूरों का आन्दोलन और इस दौरान सीईओ ललित किशोर चौधरी की मौत।

घटना का कारण

भोपाल – मुनाफ़े की हवस में शीर्ष प्रबन्धन की जानकारी और आदेश पर बरती गयी हर प्रकार की लापरवाही। निर्देशों की अवहेलना करते हुए बहुत अधिक मात्रा में अत्यन्त ज़हरीली गैस का भण्डारण। गैस को ठण्डा करने वाले यन्त्र का लम्बे समय से बेकार पड़े रहना। चेतावनी देने वाले यन्त्रों का काम न करना। यानी कि सारी की सारी जानबूझकर की गयी लापरवाहियाँ।

ग्रेजियानो – अमानवीय कार्यस्थितियों, कम वेतन, छँटनी, प्रबन्धन और उसके द्वारा पाले गए गुण्डों द्वारा गाली-गलौच और यूनियन बनाने की माँग पर मज़दूरों ने आन्दोलन शुरू किया। कम्पनी और ठेकेदारों के गुण्डों ने मज़दूरों पर जानलेवा हमला किया। सरियों-डण्डों से मज़दूरों की पिटाई की गयी, सुरक्षा गार्डों ने फ़ायरिंग भी की। लगभग 35 मज़दूर गम्भीर रूप से घायल हुए। पुलिस का दस्ता इस बीच पास में ही खड़ा रहा और प्रबन्धन के इशारे पर कोई कार्रवाई नहीं की। इस दौरान ग्रेज़ियानो के सीईओ ललित चौधरी को सिर पर चोट लग गयी, जो उनकी मौत का कारण बनी। क्या हुआ, कैसे हुआ यह किसी ने नहीं देखा। सीईओ की पत्नी के अनुसार ललित चौधरी की मौत व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता का नतीजा थी, मज़दूरों के आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।

घटना के बाद की कार्रवाई

भोपाल – कम्पनी के मालिक वारेन एण्डरसन को वीआईपी सरकारी मेहमान की तरह सरकारी विमान से भगा दिया गया। तत्कालीन मुख्यमन्त्री ने उस समय कहा कि हम किसी को भी परेशान नहीं करना चाहते हैं। कुछ अख़बारों ने लिखा कि यह मज़दूरों की करतूत थी। लगभग 26 साल तक क़ानूनी नौटंकी जिसमें जघन्य आरोपों को मामूली लापरवाही में तब्दील कर दिया गया। सज़ा के नाम पर प्रमुख आरोपियों को 2-2 साल की सज़ा हुई। सज़ा के साथ ही साथ ज़मानत भी दे दी गयी।

ग्रेज़ियानो – सीईओ की मौत के बाद सरकार से लेकर प्रशासनिक तन्त्र और अदालत तक और उद्योगपतियों की संस्थाओं से लेकर मीडिया तक सबने एकसाथ मज़दूरों पर हल्ला बोल दिया। इस मुद्दे पर सरकार ने वरिष्ठ नौकरशाहों और पूँजीपतियों की एक कमेटी बनायी। पुलिस ने मज़दूरों को ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ा, बर्बर ढंग से पीटा और 137 मज़दूरों को गिरफ़्तार कर लिया। 63 पर सीईओ की हत्या करने और बाक़ियों पर बलवा करने का आरोप लगाया गया। इस बार न्यायालय ने बड़ी मुस्तैदी दिखाते हुए मज़दूरों की ज़मानत याचिकाओं को ख़ारिज कर दिया। मज़दूरों के साथ इंसानों जैसा बर्ताव करने का अनुरोध करने की हिमाकत करने के चलते तत्कालीन श्रम मन्त्री आस्कर फर्नाण्डीज को अपना मन्त्री पद गँवाना पड़ा। ग़रीब मज़दूरों के परिवार सड़क पर आ गये। मीडिया को न पहले उनकी चिन्ता थी, न अब है।

ये केवल दो घटनाओं से सम्बन्धित तथ्यों की एक संक्षिप्त प्रस्तुति है। निष्कर्ष निकालने का काम पाठक स्वयं करें।

– जयपुष्प (ब्लॉग *'अनुभव और अनुभूति'* से साभार)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (चौथी किस्त)

• आलोक रंजन

अन्तरिम सरकार और संविधान सभा

कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव तत्कालीन परिस्थितियों में मुस्लिम लीग को अनुकूल लगे। 6 जून 1946 को उसने ब्रिटिश योजना का अनुमोदन करने के साथ ही अन्तरिम सरकार में भाग लेने की बात भी मान ली, जिसके गठन की घोषणा वायसराय वेवेल ने 16 मई 1946 को की थी। कांग्रेस ने प्रान्तों के अनिवार्य समूहीकरण (तीन मण्डलों में प्रान्तों के साम्प्रदायिक आधार पर वर्गीकरण) का विरोध करते हुए कैबिनेट मिशन और वायसराय के साथ वार्ता का एक और दौर चलाया। लेकिन ब्रिटिश सत्ताधारी अपने प्रस्तावों पर अडिग रहे। अन्ततः सत्ता के लिए आतुर कांग्रेसी नेतृत्व ने घुटने टेक दिये और 24 जून को कैबिनेट मिशन प्रस्तावों को संविधान तैयार करने के आधार के रूप में स्वीकृति दे दी।

कांग्रेस को मिशन की इस योजना पर भी आपत्ति थी कि समूहीकरण शुरू में तो अनिवार्य होगा, किन्तु बाद में संविधान बन जाने और उसके अनुसार नये चुनाव हो जाने के बाद प्रान्तों को उससे अलग हो जाने का अधिकार होगा। संविधान सभा के लिए रियासतों से प्रतिनिधियों के जनता के द्वारा चुनाव के बजाय राजाओं-नवाबों द्वारा मनोनयन पर भी कांग्रेस को एतराज़ था। अतः 10 जुलाई को कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू ने घोषणा की कि कांग्रेस संविधान सभा में भाग लेने के लिए प्रतिबद्ध है, लेकिन अन्तरिम सरकार में वह शामिल नहीं होगी। उन्होंने इस बात की भी सम्भावना प्रकट की कि पश्मोत्तर सीमाप्रान्त और असम द्वारा मण्डल 'ब' और 'स' में शामिल किये जाने पर आपत्ति के कारण समूहीकरण की योजना खटाई में भी पड़ सकती है। यह सम्भावना मुस्लिम लीग के लिए घोर आपत्तिजनक थी। कांग्रेस द्वारा अन्तरिम सरकार में शामिल नहीं होने की घोषणा के बाद वायसराय ने सिर्फ़ लीग द्वारा ऐसी सरकार बनाने की योजना को भी अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज़ों को भय था कि अन्तरिम सरकार से बाहर रहने पर कांग्रेस फिर जनान्दोलन की राह पकड़ सकती है, जो बेक़ाबू होकर सत्ता-हस्तान्तरण की ब्रिटिश योजना को खटाई में डाल सकती है। जून, 1946 में ऐसे किसी सम्भावित आन्दोलन से निपटने के लिए वे सेना की पाँच डिवीज़नें भारत लाने की तैयारी कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस का घुटा-घुटाया बुर्जुआ नेतृत्व सत्ता-प्राप्ति की दहलीज़ पर आकर स्वयं ही ऐसा कोई जोखिम मोल नहीं लेना चाहता था। उतावली उसे थी, लेकिन समझौता-सौदेबाज़ी के ज़रिये ही उसे लक्ष्य-सिद्धि करनी थी। अंग्रेज़ों के आकलन से कहीं अधिक कांग्रेसी नेतृत्व जनान्दोलनों से डरता था।

अकेले अन्तरिम सरकार बनाने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने के बाद मुस्लिम लीग ने 29-30 जुलाई की कैबिनेट मिशन प्रस्तावों की मंज़ूरी वापस लेते हुए संविधान सभा में भी भाग लेने से इनकार कर दिया और 16 अगस्त को पाकिस्तान के निर्माण के लिए *'सीधी कार्रवाई'* के लिए 'मुस्लिम राष्ट्र' का आह्वान किया। मुस्लिम लीग द्वारा निर्णायक दबाव बनाने का मुख्य कारण यह था कि उसे अंग्रेज़ों और कांग्रेस के बीच अन्तरिम सरकार के गठन को लेकर पक रही खिचड़ी की गन्ध लग गयी थी। अंग्रेज़ ऐसा इसलिए चाहते थे कि उन्हें जनसंघर्षों के प्रचण्ड उभार का भूत सता रहा था। जुलाई में रेलवे की अखिल भारतीय हड़ताल की धमकी मिल चुकी थी और डाक कर्मचारियों की अखिल भारतीय हड़ताल हो भी चुकी थी। पूरे 1946 में 2000 से अधिक संगठित हड़तालें हुईं, जिनमें 20 लाख मज़दूरों ने भाग लिया। गाँवों में भी किसान संघर्ष तेज़ी से आगे बढ़ रहे थे। 31 जुलाई 1946 को भारत सचिव को लिखे गये एक पत्र में वेवेल ने लिखा था कि यदि कांग्रेसी सरकार बना लें तो वे अराजक तत्त्वों और कम्युनिस्टों को दबाने के साथ ही अपने भीतर के वामपन्थी तत्त्वों पर भी नकेल कसेंगे। उसका मानना था कि एक "उत्तरदायी भारतीय सरकार" मज़दूरों से अधिक निर्णायक ढंग से निपटेगी। 5 अगस्त तक पूँजीपतियों और कांग्रेस के भीतर के सामन्ती कुलीनों के दबाव में पटेल और उनका दक्षिणपन्थी गुट निश्चय कर चुका था कि हालात बेक़ाबू होने से बचाने के लिए कांग्रेस को सरकार में शामिल होना ही होगा। फिर गाँधी और नेहरू भी इसी नतीजे पर पहुँचे। 2 सितम्बर को नेहरू के नेतृत्व वाली कांग्रेसी अन्तरिम सरकार को शपथ दिलायी गयी। घुटने टेकते समय लाज बचाते हुए नेहरू ने बयान दिया कि कांग्रेस अभी भी अनिवार्य समूहीकरण के विरुद्ध है, लेकिन इस मामले को वह भावी संघीय न्यायालय के हवाले करने को तैयार है।

जिन्ना द्वारा 16 अगस्त को घोषित *'सीधी कार्रवाई'* का स्वरूप जनान्दोलनात्मक नहीं बल्कि ख़ूनी दंगाई था। दंगों की शुरुआत 16-19 अगस्त के दौरान कलकत्ता से हुई, फिर बम्बई (1 सितम्बर) से होते हुए यह आग पूर्वी बंगाल के नोआखाली (10 अक्टूबर), बिहार (25 अक्टूबर) और संयुक्त प्रान्त के गढ़ मुक्तेश्वर (नवम्बर) तक फैल गयी। मार्च, 1947 तक पूरा पंजाब इसकी आग में धू-धू करके जलने लगा। अगस्त तक केवल पंजाब में 5,000 लोग मारे जा चुके थे। लेकिन यह नरसंहार 15 अगस्त 1947 के बाद सीमा के दोनों ओर हुए हिंसा के महाताण्डव के आगे कुछ भी नहीं था जिसमें तक़रीबन 1,80,000 लोग मारे गये तथा मार्च 1948 तक 60 लाख मुसलमान और 45 लाख हिन्दू एवं सिख शरणार्थी बन चुके थे।

अगस्त 1946 में दंगों का सिलसिला जब शुरू हुआ, तो नेहरू की अन्तरिम सरकार मानो पंगु होकर इसे देख रही थी। जून '46 तक सम्भावित जनान्दोलन से निपटने के लिए पाँच डिवीज़न सेना भारत लाने की योजना बनाने वाली औपनिवेशिक सत्ता हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। घटनाक्रम स्पष्ट इंगित करता है कि अंग्रेज़ इस आग को ज़्यादा से ज़्यादा भड़कते देखना चाहते थे। अक्टूबर में मुस्लिम लीग भी अन्तरिम सरकार में शामिल हो गयी, लेकिन उसने 'सीधी कार्रवाई' की योजना त्यागी नहीं। वह सरकार में भी शामिल रही और दंगे भी जारी रहे। उधर दक्षिणपन्थी हिन्दू प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन व संरक्षण देने में कांग्रेस का दक्षिणपन्थी धड़ा भी पीछे नहीं था।

अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बावजूद लीग ने संविधान सभा में बैठने से इनकार कर दिया, जिसकी बैठक 9 सितम्बर से शुरू होने वाली थी। संविधान सभा के चुनाव जून में हो चुके थे, पर लीग व सिखों के बहिष्कार के कारण उसकी बैठक शुरू होने में देर हुई। लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार का भरपूर लाभ उठाते हुए ब्रिटिश सरकार ने भावी संविधान में अनुच्छेदों पर मतदान के क्रम में एक परिवर्तन का सुझाव दिया। वह यह था कि जिन प्रान्तों के अधिकांश प्रतिनिधि संविधान सभा में भाग न ले रहे हों, संविधान उन पर लागू नहीं होगा। यह मुस्लिम लीग के दावों को बल प्रदान करने वाली उपनिवेशवादी साज़िश थी, जिसे स्वीकार कर कांग्रेस ने भी विभाजन की पूर्वपीठिका तैयार करने में योगदान किया। लीग की अनुपस्थिति में संविधान सभा की बैठक ने बस एक सामान्य लक्ष्य सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया, जिसमें स्वायत्त इकाइयों और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा और सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक लोकतन्त्र से युक्त *'एक स्वतन्त्र सम्प्रभुता सम्पन्न गणतन्त्र'* का आदर्श प्रस्तुत किया गया था। इस आदर्श का अमली रूप आज हमारे सामने है। इस सामान्य लक्ष्य एवं आदर्श के अनुरूप जो संविधान तैयार किया गया, उसकी विवेचना आगे प्रस्तुत की जायेगी। लेकिन इस लोकतान्त्रिक गणराज्य के घोषित आदर्श की असलियत उजागर करने के लिए मात्र एक तथ्य का उल्लेख काफ़ी है कि भारतीय संघ में शामिल होने वाली देशी रियासतों में राजतन्त्र क़ायम रखने की छूट थी। संविधान सभा में सामान्य लक्ष्य-सम्बन्धी जो उपरोक्त प्रस्ताव पारित हुआ था, वह कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन (नवम्बर 1946) में पारित राजनीतिक दिशा के अनुरूप था।

संविधान-विषयक कांग्रेसी विश्वासघात को उजागर करने के लिए एक तथ्य को याद दिलाना ज़रूरी है। मेरठ अधिवेशन में 'सब्जेक्ट्स कमेटी' की बैठक में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने वायदा किया था कि आज़ादी मिल जाने के बाद सार्विक वयस्क मताधिकार पर आधारित एक नयी संविधान सभा बुलायी जायेगी (एस. गोपाल सम्पादित *'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू'*, खण्ड-1, पृ. 19)। लेकिन तमाम वायदों की तरह यह वायदा भी भुला दिया गया। इसके बाद कांग्रेस ने कभी भी सार्विक वयस्क मताधिकार आधारित संविधान सभा बुलाने की बात नहीं की। जनवरी, 1947 में ही कांग्रेस ने संविधान सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व के बारे में राजाओं से वार्ता के लिए एक विशेष समिति बनायी। वार्ता के बाद यह समझौता हुआ कि रियासतों के आधे प्रतिनिधि राजाओं द्वारा मनोनीत होंगे और आधे निर्वाचित होंगे। इसकी पृष्ठभूमि में तेभागा, पुनप्रा-वायलार, तेलंगाना के अतिरिक्त कश्मीर, राजपूताना और मध्य भारत की कई रियासतों में जारी सामन्तवाद-विरोधी जनसंघर्ष थे, जिनके चलते सामन्ती शासक इस समझौते के लिए बाध्य हुए थे।

लीग और कांग्रेस की मिली-जुली अन्तरिम सरकार के अनुभवों से साफ़ होता जा रहा था कि सत्ता-लिप्सा और सौदेबाज़ी की राजनीति का रास्ता देश के विभाजन की ओर तेज़ी से बढ़ रहा था। वायसराय से मिलने से पहले की जाने वाली नेहरू की अनौपचारिक कैबिनेट बैठकों का लीग बहिष्कार करती थी। लीगी वित्तमन्त्री लियाक़त अली ख़ान ने फ़रवरी 1947 में प्रस्तुत बजट में बड़े उद्योगपतियों पर भारी टैक्स लगाकर कांग्रेस पर भारी चोट की थी। ये बड़े उद्योगपति कांग्रेस के मुख्य समर्थक थे और उनके हितों पर चोट वह क़तई बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। इसके बजाय वह देश के विभाजन को चुनना बेहतर समझती, इसे लीग भी समझती थी और अंग्रेज़ भी। नोआखाली, कलकत्ता, बिहार और पंजाब के दंगों के बाद बहुतेरे कांग्रेसियों के धर्मनिरपेक्ष आदर्श काफ़ूर होने लगे थे और दक्षिणपन्थी कांग्रेसी धड़े का सांगठनिक आधार बहुत मज़बूत हो गया था। नेहरू को किसी भी हालत में सत्तासीन होने की जल्दी थी। मज़दूरों-किसानों के जुझारू वर्ग-संघर्षों और कम्युनिज़्म की लहर से वे भी किसी अन्य बुर्जुआ नेता से कम आतंकित नहीं थे। अपने धर्मनिरपेक्ष आदर्शों को लेकर वे इस हद तक जाने को तैयार नहीं थे कि साम्राज्यवाद-विरोधी जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता चुन लेते। गाँधी इस दौर में एक ईमानदार बुर्जुआ मानवतावादी की तरह दंगों की लहर और विभाजन का विरोध कर रहे थे। पर उनकी स्थिति अब बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि, सिद्धान्तकार और रणनीति-निर्माता की नहीं रह गयी थी। उनके 'हिन्द स्वराज' व 'ग्राम स्वराज' के यूटोपिया की ज़रूरत भारतीय बुर्जुआ वर्ग को तभी तक थी, जब तक अंग्रेज़ों पर दबाव बनाने के लिए व्यापक किसान जनता व शहरी मध्यवर्ग के आन्दोलनों की ज़रूरत थी। अब बुर्जुआ वर्ग को गाँधी की नहीं, बल्कि नेहरू और पटेल की ज़रूरत थी। नतीजतन, गाँधी, एक जीवित मूर्ति बनाकर किनारे लगा दिये गये थे। साम्प्रदायिक दंगों और मिली-जुली सरकार की अव्यावहारिकता के चलते न केवल बहुसंख्यक कांग्रेसी अब विभाजन को एकमात्र विकल्प मानने लगे थे, बल्कि पंजाब और बंगाल के हिन्दू और सिख सम्प्रदायवादी भी अब पुरज़ोर तरीक़े से विभाजन का समर्थन करने लगे थे। "सौदेबाज़ी, समझौतों और अन्तरिम सरकारें चलाने की बुर्जुआ राजनीति की यह तार्किक परिणति थी कि देश-विभाजन की उपनिवेशवादी साज़िशें लगातार कामयाबी की ओर अग्रसर थीं। पहले भी यह चर्चा की जा चुकी है कि केवल साम्राज्यवाद-विरोधी सामन्तवाद-विरोधी जुझारू जनसंघर्ष ही साम्प्रदायिकता की राजनीति को निर्मूल कर सकते थे, पर कांग्रेस का बुर्जुआ नेतृत्व इस रास्ते को चुनने के लिए क़तई तैयार नहीं था। इस दौर के बारे में इतिहासकार सुमित सरकार ने लिखा है : *"...इतना तो कहा जा सकता है कि एकमात्र विकल्प साम्राज्यवाद एवं इसके भारतीय मित्रों के विरुद्ध संयुक्त और जुझारू जनसंघर्ष का ही मार्ग था, यह ऐसी बात थी जिससे, जैसाकि हमने बार-बार देखा, अंग्रेज़ सचमुच डरते थे। दंगों द्वारा स्पष्ट रूप से बाधित होने के बावजूद यह सम्भावना 1946-47 की शीत ऋतु तक भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई थी। अगस्त के दंगों के पाँच महीनों बाद, 21 जनवरी 1947 को कलकत्ता के विद्यार्थी फिर से सड़कों पर निकल आये थे और 'वियतनाम से दूर रहो' वाले प्रदर्शन में फ़्रांसीसी विमानों द्वारा दमदम हवाई अड्डे का उपयोग किये जाने का विरोध कर रहे थे। इसी दिन कम्युनिस्ट नेतृत्व में हुई अत्यन्त संगठित, और अन्त में विजयी, 85 दिन की ट्राम हड़ताल में लगता था कि समस्त साम्प्रदायिक भेदभाव भुला दिये गये हैं। इसके शीघ्र बाद ही बन्दरगाह के कर्मचारियों और हावड़ा के इंजीनियरिंग कामगारों ने भी हड़तालें कीं। वस्तुतः जनवरी और फ़रवरी में तो हड़तालों की नयी लहर-सी आ गयी थी। कानपुर की कपड़ा मिलों में 1,00,000 लोग हड़ताल पर थे, कोयला रोक देने की धमकी दी गयी थी, और कोयम्बटूर, कराची और अन्य स्थानों पर भी "मुख्यतः कम्युनिस्ट आन्दोलन" के कारण हड़तालें हुईं (वेवेल द्वारा श्रम मन्त्री जगजीवन राम का हवाला, 14 जनवरी 1947, वायसरायेज़ जर्नल, पृ. 410)। 18 जनवरी को बिड़ला ने गाँधीजी के सचिव प्यारेलाल से शिकायत की – "हर जगह हड़तालें हो रही हैं... हर कोई अधिक पारिश्रमिक और कम काम करना चाहता है" (जी.डी. बिड़ला, बापू, खण्ड-1, पृ. 434)। तथापि ये हड़तालें शुद्ध रूप से आर्थिक माँगों पर आधारित थीं, कमी थी तो पर्याप्त प्रभावी एवं दृढ़ संकल्प वाले राजनीतिक नेतृत्व की।" (आधुनिक भारत, पृ. 460)।*

ज़ाहिर है कि जनसंघर्षों की कड़ियाँ पिरोकर एक देशव्यापी साम्राज्यवाद-विरोधी जनउभार की स्थितियाँ निर्मित करने की ज़िम्मेदारी कांग्रेस का बुर्जुआ नेतृत्व नहीं निभा सकता था। उसका समझौतापरस्त चरित्र अब तक साफ़ होकर सामने आ चुका था। त्रासद विडम्बना यह थी कि शुरू से ही विचारधारात्मक कमज़ोरियों से ग्रस्त और ग़ैर-बोल्शेविक ढाँचे एवं कार्यप्रणाली वाली कम्युनिस्ट पार्टी भी इस दिशा में आगे बढ़कर पहल ले पाने की स्थिति में नहीं थी। पी.सी. जोशी की दक्षिणपन्थी भटकाव की लाइन ने लगभग एक दशक के दौरान पार्टी की रही-सही निर्णायकता

(पेज 7 पर जारी)

कॉमरेड के "कतिपय बुद्धिजीवी या संगठन" और कॉमरेड का कतिपय "मार्क्सवाद"

दिल्ली के बादाम मज़दूरों का ऐतिहासिक आन्दोलन और मज़दूर आन्दोलन की भावी दिशा

● अभिनव

(पृष्ठभूमि : यह टिप्पणी 'समयान्तर' जनवरी 2010 में प्रकाशित लेख 'गुड़गाँव का मज़दूर आन्दोलन : भावी मज़दूर आन्दोलन के दिशा संकेत' में प्रस्तुत कुछ स्थापनाओं का उत्तर देते हुए लिखी गयी थी। 'समयान्तर' ने वह लेख 'इन्क़लाबी मज़दूर' से साभार लिया था। 'समयान्तर' सम्पादक यूँ तो प्रासंगिक विषयों पर जनवादी तरीक़े से वाद-विवाद चलाने का पुरज़ोर समर्थन करते हैं, लेकिन किन्हीं कारणोंवश उन्होंने हमारी यह टिप्पणी प्रकाशित नहीं की। तब यह टिप्पणी 'बिगुल' को प्रकाशनार्थ भेजी गयी। ज्ञातव्य है कि विगत 24 जुलाई, 2009 को दिल्ली में हुई एक संगोष्ठी में भी 'इन्क़लाबी मज़दूर' के एक साथी ने "भूमण्डलीकरण के दौर में मज़दूर आन्दोलन के स्वरूप और दिशा पर यही बातें रखी थीं, जिनका हमने विस्तार से उत्तर दिया था। इस संगोष्ठी की विस्तृत रपट 'बिगुल' के अगस्त '09 अंक में प्रकाशित हुई थी, जिसे पाठक देख सकते हैं। इसके बावजूद, हमारे "इन्क़लाबी कामरेड" जब "कतिपय बुद्धिजीवियों" का पुतला खड़ा करके शरसन्धान करते हुए अपने कठमुल्लावादी-अर्थवादी मार्क्सवाद का प्रदर्शन कर रहे हैं, तो हम अपनी पोज़ीशन एक बार फिर स्पष्ट करना ज़रूरी समझते हैं – अभिनव)

दिसम्बर 2009 का महीना दिल्ली के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में एक यादगार तारीख़ बन गया। 16 दिसम्बर से लेकर 31 दिसम्बर तक दिल्ली के करावलनगर क्षेत्र में स्थित बादाम संसाधन उद्योग के क़रीब 30 से 35 हज़ार मज़दूरों ने एक जुझारू हड़ताल की। यह दिल्ली के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों की अब तक की सबसे बड़ी हड़ताल साबित हुई और इसे कनाडा और अमेरिका की ऑलमण्ड वर्कर्स यूनियनों से भी समर्थन मिला। 15 दिनों तक यह हड़ताल तमाम देशी-विदेशी वेबसाइटों पर छाई रही (जैसे सिलोब्रेकर डॉट कॉम, सन्हति डॉट कॉम, रैडिकलनोट्स डॉट कॉम, डब्ल्यूएसडब्ल्यूएस डॉट ओआरजी, आदि)। आप अभी भी गूगल या किसी अन्य सर्च इंजन पर "ऑलमण्ड वर्कर्स स्ट्राइक डेल्ही" सर्च वर्ड देकर सर्च करें तो आपको सैकड़ों वेबसाइटों की सूची मिलेगी, जिसमें इस हड़ताल से सम्बन्धित रिपोर्टें भरी हुई हैं। यह ऐतिहासिक हड़ताल 31 दिसम्बर को मालिकों और मज़दूर पक्ष के बीच में समझौते के रूप में समाप्त हुई। इस हड़ताल का नेतृत्व करावलनगर स्थित इलाक़ाई मज़दूर यूनियन 'बादाम मज़दूर यूनियन' कर रही थी। इस नाम से यह भ्रम न हो कि यह महज़ बादाम मज़दूरों की ही यूनियन है। इस यूनियन में करावलनगर के तमाम मज़दूर सदस्य हैं, जिनमें करावलनगर के कारखाना मज़दूरों से लेकर बादाम मज़दूर, पल्लेदार, रिक्शेवाले, आदि शामिल हैं। पिछले डेढ़ वर्षों से यह यूनियन इन विविध पेशों में कार्यरत मज़दूरों के मुद्दों पर संघर्ष करती रही है। हालिया हड़ताल इस यूनियन की अब तक की सबसे बड़ी कार्रवाई थी, जो दिल्ली के मज़दूर आन्दोलन की भी सबसे बड़ी कार्रवाइयों में से एक बन गयी।

इस संघर्ष ने दिखलाया कि मज़दूरों की उस भारी आबादी को भी एकजुट किया जा सकता है जो बेहद छोटे, छोटे और मँझोले कारख़ानों में काम करती है। इन्हें कारख़ानों में संगठित कर पाना बेहद मुश्किल होता है क्योंकि आमतौर पर इन कारख़ानों में अधिकतम 300 मज़दूर काम करते हैं। इनमें से भी अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें प्रसिद्ध लेबर इतिहासकार यान ब्रीमन ने 'फ़ुटलूज़ लेबर' कहा है। ये मज़दूर आज एक कारख़ाने में होते हैं तो कल दूसरे और परसों तीसरे कारख़ाने में, और कभी-कभी वे किसी कारख़ाने की बजाय रेहड़ी-खोमचा लगाये भी मिल सकते हैं या ठेले पर अण्डा या मूँगफली बेचते हुए भी दिख सकते हैं। ऐसे मज़दूरों को आख़िर किस प्रकार संगठित किया जाये? इस सवाल का जवाब एक हद तक बादाम मज़दूरों की इस ऐतिहासिक हड़ताल ने दिया। ऐसे बेहद छोटे, छोटे या मँझोले कारख़ानों में भी अगर मज़दूरों की लड़ाई को लड़ना होगा तो महज़ कारख़ाना यूनियन पर्याप्त नहीं होगी, क्योंकि ऐसी किसी भी यूनियन की स्थायी सदस्यता बेहद छोटी होगी और शेष मज़दूर लगातार बदलते रहेंगे। लेकिन अगर मज़दूरों को उनकी रिहायश की जगह पर संगठित किया जाये तो कारख़ाने के संघर्षों को भी नये तरीक़े से संगठित किया जा सकता है। बादाम मज़दूर यूनियन ने यही काम करके दिखाया। एक इलाक़ाई पैमाने पर बनी यूनियन ने क़रीब 45 बादाम संसाधन कारख़ानों में एक साथ हड़ताल कर दी और इस हड़ताल के कारण बादाम का पूरा वैश्विक व्यवसाय बुरी तरह डगमगा गया (देखें रैडिकलनोट्स डॉट कॉम, सन्हति डॉट कॉम, सिलोब्रेकर डॉट कॉम, डब्ल्यूएसडब्ल्यूएस डॉट ओरआरजी)। एक-एक बादाम कारख़ाने की यूनियन बनाना सम्भव नहीं था। अगर बादाम मज़दूरों को अपनी कारख़ाने की लड़ाई भी जीतनी थी तो उन्हें अपने संगठित होने के लोकेशन को कारख़ाने से बस्ती की ओर ले जाना और फिर बस्ती से कारख़ाने तक आना ज़रूरी था। यही काम बादाम मज़दूर यूनियन ने किया और नतीजा था बादाम मज़दूरों की एक ऐसी हड़ताल जो परिघटना बन गयी।

लेकिन इतनी-सी बात को कुछ "इन्क़लाबी मार्क्सवादी" साथी समझ नहीं पा रहे हैं। इस बात पर वे बेहद नाराज़ हो जाते हैं और उन "कतिपय बुद्धिजीवियों या संगठनों" पर बरस पड़ते हैं जो मज़दूरों को उनकी रिहायश की जगहों पर संगठित करने की बात कर देते हैं। इस गुस्से के मस्तिष्क ज्वर में वे एक काल्पनिक मार्क्सवादी का पुतला खड़ा करते हैं। इसके बाद वे अपने "इन्क़लाबी तीरों" से इस पुतले को तहस-नहस करने के लिए टूट पड़ते हैं। लेकिन ज़रा देखिये! अपने इस प्रयास में वे तमाम ऐसी बातें बोल जाते हैं जो हमारे "इन्क़लाबी कॉमरेड" के मार्क्सवाद के अर्थवादी पाठ और समझदारी को उघाड़ कर रख देती हैं। हमारे "इन्क़लाबी साथी" अपने काल्पनिक मार्क्सवादी कतिपय बुद्धिजीवियों या संगठनों पर कुछ आरोप लगाते हैं। वे कहते हैं कि ये कतिपय बुद्धिजीवी या संगठन यह कहते हैं कि कारख़ाना आधारित संघर्षों का ज़माना चला गया और भूमण्डलीकरण के दौर में असेम्बली लाइन उत्पादन के ह्रास के साथ अब मज़दूरों को कारख़ाना संघर्षों में संगठित करना सम्भव नहीं रह गया है। सच कहें तो हम भी ऐसे कतिपय बुद्धिजीवियों और संगठनों से मिलना चाहेंगे जो ऐसा कहते हैं! यह वाक़ई काफ़ी दिलचस्प होगा! दूसरा आरोप यह है कि ये कतिपय बुद्धिजीवी या संगठन यह कहते हैं कि संगठित सर्वहारा अब इतना छोटा रह गया है कि वह उत्पादन ठप्प करने के अपने अमोघ अस्त्र से वंचित हो गया है और कारख़ाना संघर्षों के सन्दर्भ में अब पूँजीवाद इम्यून हो गया है। यह आरोप सुनकर तो इन कतिपय बुद्धिजीवियों या संगठनों से मिलने की हमारी तमन्ना और भी अधिक तीव्र हो चली है। तीसरा आरोप यह है कि ये कतिपय बुद्धिजीवी या संगठन कहते हैं कि जितने संगठित मज़दूर बाक़ी बचे हैं, वे सबके सब अभिजात या कुलीन मज़दूर वर्ग में तब्दील हो चुके हैं। ये आरोप सुनने के बाद तो हम इन बुद्धिजीवियों और संगठनों से मिलने के लिए कुछ ज़्यादा ही उतावले हो गये हैं!

ऐसी बातें अगर कोई भी बुद्धिजीवी या संगठन कहता है तो कोई भी श्रमिक कार्यकर्ता, ट्रेडयूनियन कार्यकर्ता या राजनीतिक कार्यकर्ता उससे असहमत हुए बिना नहीं रह सकता। लेकिन हमारे "इन्क़लाबी कॉमरेडों" की बातें सुनकर न जाने क्यों *डीजावू* (पुनरावृत्ति की भ्रामक अनुभूति) की अनुभूति हो रही है। बरबस ही जुलाई 2009 में हुई एक गोष्ठी की बात याद आ रही है जिसमें हमारे ऐसे ही एक "इन्क़लाबी कॉमरेड" ने एक कतिपय मार्क्सवादी बुद्धिजीवी या संगठन के पुतले पर बेतहाशा तीर बरसाये थे। उस समय भी यह जवाब दिया गया था कि आप जिस निशाने पर तीर चला रहे हैं ऐसा कोई बुद्धिजीवी या संगठन तो नज़र आ नहीं रहा है; उल्टे ऐसा लग रहा है कि तीर खाने वाला तो एक काल्पनिक मार्क्सवादी का बेचारा पुतला है! लेकिन इस तर्कबाण-वर्षा में उस समय भी हमारे "इन्क़लाबी साथी" कुछ ऐसी बातें कह गये जिससे मार्क्सवाद और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास के बारे में उनकी अर्थवादी समझदारी उजागर हो गयी थी। इससे पहले कि हम अपने "इन्क़लाबी कॉमरेड" के तर्कों का विश्लेषण करें हम कुछ श्रेणियों और आँकड़ों को स्पष्ट करना चाहेंगे।

जब हम कहते हैं कि आज मज़दूर आबादी का बड़े पैमाने पर अनौपचारिकीकरण हो रहा है और जहाँ भी सम्भव है पूँजीवाद बड़ी औद्योगिक इकाइयों को छोटी-छोटी औद्योगिक इकाइयों में तोड़ रहा है जिसके कारण पुराने ज़माने की तरह बेहद बड़े पैमाने पर कारख़ाना संघर्षों के होने और उनके सफल होने की सम्भावनाएँ कम हो रही हैं तो इसका यह अर्थ आलोचना करने को उतावला कोई जल्दबाज़ ही निकाल सकता है कि हम कारख़ाना संघर्षों को ही तिलांजलि दे देने के लिए कह रहे हैं या यह कह रहे हैं कि अब कारख़ाना संघर्ष होंगे ही नहीं। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ है कि कारख़ाना केन्द्रित लड़ाइयों को भी अब अगर जुझारू और सफल तरीक़े से लड़ना होगा तो मज़दूरों को पेशागत यूनियनें और इलाक़ाई यूनियनें बनानी होंगी। इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि कारख़ाना-आधारित यूनियनें नहीं बनानी होंगी। जहाँ कहीं भी सम्भव हो वहाँ निश्चित रूप से कारख़ाना-आधारित यूनियनें बनानी होंगी। लेकिन जहाँ कारख़ाना-आधारित यूनियनें होंगी या बनायी जायेंगी, वहाँ भी इलाक़ाई और पेशागत यूनियनें बनानी होंगी। इस बात को हमारे जल्दबाज़ उतावले आलोचक इसलिए नहीं समझते हैं क्योंकि वे दो अलग-अलग श्रेणियों में फ़र्क़ नहीं कर पाते हैं। ये दो श्रेणियाँ हैं औपचारिक/अनौचारिक क्षेत्र और संगठित/असंगठित क्षेत्र। हमारे "इन्क़लाबी साथियों" समेत कई लोग यह समझते हैं कि औपचारिक क्षेत्र यानी संगठित क्षेत्र व अनौपचारिक क्षेत्र मतलब असंगठित क्षेत्र। यह समझदारी विनाशकारी नतीजों तक ले जाती है। इन दोनों श्रेणियों के बीच के फ़र्क़ को समझना अनिवार्य है। इनके फ़र्क़ को समझ लिया जाये और फिर इनसे सम्बन्धित आँकड़ों को देखा जाये तो हमारा तर्क काफ़ी हद तक साफ़ हो जाता है। औपचारिक क्षेत्र का अर्थ होता है, वे कारख़ाने व वर्कशॉप जो फ़ैक्टरी एक्ट व अन्य औद्योगिक व श्रम क़ानूनों के अन्तर्गत आते हैं, कम से कम आधिकारिक तौर पर। औपचारिक क्षेत्र में संगठित मज़दूर भी हैं और असंगठित मज़दूर भी हैं। सरकारी और ग़ैर-सरकारी आँकड़ों के अनुसार औपचारिक क्षेत्र में संगठित मज़दूरों का प्रतिशत 10 के क़रीब है जबकि असंगठित मज़दूर आबादी क़रीब 90 प्रतिशत है। अनौपचारिक क्षेत्र में वे लाखों औद्योगिक इकाइयाँ और वर्कशॉप हैं जो क़ानूनों के दायरे से बाहर हैं या क़ानूनों के लागू होने की श्रेणी में नहीं आते। यानी उन पर कोई औद्योगिक और श्रम क़ानून लागू नहीं होता। सरकारी और ग़ैर-सरकारी आँकड़ों के अनुसार अनौपचारिक क्षेत्र में संगठित मज़दूरों का कुल प्रतिशत मुश्किल से 1 से 3 प्रतिशत है। संगठित मज़दूर का अर्थ है स्थायी मज़दूर जो आमतौर पर ट्रेड यूनियनों में संगठित होते हैं (हालाँकि अनौपचारिक क्षेत्र में ऐसे स्थायी मज़दूर भी बेहद कम हैं जो किसी ट्रेड यूनियन के रूप में संगठित हों)। असंगठित मज़दूर का अर्थ है कैज़ुअल, दिहाड़ी या पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूर। ये मज़दूर अनौपचारिक क्षेत्र के कुल मज़दूरों का क़रीब 97 से 99 प्रतिशत हैं। अनौपचारिक क्षेत्र में किसी भी औद्योगिक या श्रम क़ानून के तहत न आने वाले कारख़ानों और वर्कशापों के अतिरिक्त वे करोड़ों छोटे काम-धन्धे भी शामिल हैं जिन्हें सरकारी आँकड़े "स्वरोज़गार" की मज़ाक़िया श्रेणी में रखते हैं। लेकिन यह समझना भी बहुत बड़ी भूल होगी कि ऐसे मेहनतकश कभी कारख़ाना मज़दूर नहीं होते या जो अनौपचारिक क्षेत्र के कारख़ानों/वर्कशॉपों के मज़दूर हैं, वे कभी छोटे-मोटे स्वरोज़गार नहीं करते। वास्तव में अनौपचारिक क्षेत्र की कुल मज़दूर आबादी में आन्तरिक गतिशीलता (इण्टर्नल मोबिलिटी) बहुत अधिक होती है। यान ब्रीमन अपनी प्रसिद्ध और प्रशंसित रचना "फ़ुटलूज़ लेबर" में बताते हैं कि ऐसे मज़दूरों में आप पायेंगे कि 2 महीने पहले कारख़ाने में काम कर रहा मज़दूर आज रिक्शा चला रहा है या रेहड़ी-खोमचा लगा रहा है; दो महीने बाद आपको पता चल सकता है कि वह वापस कारख़ाने में काम करने लगा है, लेकिन किसी नये कारख़ाने में।

रोहिणी हेंसमान, यान ब्रीमन, अर्जुन सेनगुप्ता, कानन जैसे अर्थशास्त्रियों से लेकर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन, जनगणना, आदि जैसे सरकारी स्रोत तक बताते हैं कि औपचारिक और अनौपचारिक क्षेत्र मिलाकर कुल मज़दूर आबादी का 3 प्रतिशत संगठित मज़दूर आबादी है और 97 प्रतिशत असंगठित। देश के क़रीब 60 करोड़ सर्वहारा आबादी में से क़रीब एक तिहाई कारख़ाना मज़दूर हैं। लेकिन इनमें से ऐसे 98 प्रतिशत या तो बेहद छोटे कारख़ानों और वर्कशॉपों में काम करते हैं, छोटा-मोटा स्वरोज़गार करते हैं या फिर अगर किसी बड़े औपचारिक क्षेत्र की इकाई में भी काम करते हैं तो असंगठित मज़दूर (कैज़ुअल, ठेका, दिहाड़ी) के रूप में। अगर कुल औद्योगिक मज़दूरों का 98 प्रतिशत फ़ुटलूज़ लेबर है तो निश्चित रूप से उन्हें कारख़ाने के भीतर संगठित करने की कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ, चुनौतियाँ और सीमाएँ होंगी। गुड़गाँव में हुआ मज़दूर आन्दोलन भी कोई कारख़ाना केन्द्रित आन्दोलन ही नहीं रह गया था। स्वत:स्फूर्त तरीक़े से वह एक इलाक़े के मज़दूरों के आन्दोलन में तब्दील हो चुका था। कारख़ाने के मुद्दों पर संघर्ष हो, इस पर कोई दो राय नहीं है। जिन कतिपय बुद्धिजीवियों या संगठनों पर हमारे "इन्क़लाबी कॉमरेड" निशाना ताने बैठे हैं, उन्होंने

(पेज 8 पर जारी)

यूनानी मज़दूरों और नौजवानों के जुझारू आन्दोलन के सामने विश्व पूँजीवाद के मुखिया मजबूर

● अभिनव

यूरोपीय आर्थिक संघ के संकट ने खोली वित्तीय संकट से उबरने के दावों की पोल!

जनता नहीं उठायेगी सट्टेबाज़ों, आर्थिक लुच्चों-लफंगों के जुए का बोझ

अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस समेत विश्व पूँजीवाद के सभी छोटे-बड़े चौधरी अभी हकला-तुतलाकर विश्व पूँजीवाद के वित्तीय संकट से उबरने की बातें कर ही रहे थे कि उनके कर्मों का फल फिर से सामने आ गया। जगह बदल गयी, नाम बदल गये (लेकिन फिर से ज़ाहिर हो गया कि 'अन्तिम विजय' और 'पूँजीवाद के अलावा कोई विकल्प नहीं' जैसे दावे करने वाला विश्व पूँजीवाद अन्दर से एकदम खोखला, कमज़ोर और क्षरित हो चुका है। आज यह सिर्फ़ इसलिए टिका हुआ है कि जनता की ताक़तें बिखरी हुई हैं और विश्व मज़दूर आन्दोलन वैचारिक, राजनीतिक और सांगठनिक रूप से कमज़ोर है। पूँजीवाद एक विश्व व्यवस्था के रूप में सिर्फ़ और सिर्फ़ जड़ता की ताक़त से टिका हुआ है।

हाल ही के यूनान के आर्थिक संकट और उसके बाद यूनान को दिये गये 1 ट्रिलियन डॉलर के बेलआउट पैकेज ने विश्व पूँजीवाद की सेहत को एक बार फिर बेनक़ाब कर दिया। पहले यूरोपीय संघ और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष यूनान, पुर्तगाल और स्पेन को कोई भी सहायता पैकेज देने को तैयार नहीं थे और यूनान पर अपने सार्वजनिक ख़र्चे कम करने, निजीकरण करने, मज़दूरी में कटौती करने और सभी सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने वाली योजनाओं को रद्द करने की माँग कर रहे थे। लेकिन यूनानी मज़दूरों और युवाओं के जुझारू तेवर के सामने पूरे यूरोप के पूँजीवादी देशों को यह समझ में आ गया कि ऐसी कोई भी कटौती नहीं की जा सकती है और न ही निजीकरण कर पाना सम्भव होगा और अगर सहायता पैकेज नहीं दिया गया और यूनान दीवालिया घोषित हुआ तो तमाम यूरोपीय बैंक एक-एक करके धराशायी होंगे और एक 'चेन रिएक्शन' के परिणामस्वरूप संकट पूरे विश्व में फैल जायेगा। इसलिए 7 मई को 1 ट्रिलियन डॉलर का बेलआउट पैकेज देकर विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के मरीज़ की उखड़ती साँसों को कुछ अस्थायी स्थायित्व प्रदान किया गया। लेकिन इस पूरे संकट की कहानी 2 साल पहले शुरू हुई थी।

2008 के सितम्बर में अमेरिकी सबप्राइम संकट अपने चरम पर था और अमेरिका और यूरोप की ज़दों से बाहर निकल विश्व पूँजीवाद के आर्थिक संकट की शक्ल अख़्तियार कर चुका था। इस संकट का कारण था अमेरिका के वित्तीय इजारेदार पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस। इससे पहले कि हम मौजूदा संकट के बारे में कुछ कहें, संक्षेप में 2006 से जारी हुए और 2008 में चरम पर पहुँचे अमेरिकी सबप्राइम संकट के बारे में बता देना उपयोगी होगा, क्योंकि मौजूदा संकट का उससे गहरा रिश्ता है।

मौजूदा संकट की पृष्ठभूमि

दिसम्बर 2006 से अमेरिका में शुरू हुए संकट का कारण था वित्तीय पूँजीपतियों के पापों का घड़ा भर जाना! द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद क़रीब दो दशक की तेज़ी के बाद से ही विश्व पूँजीवाद अतिउत्पादन और मन्दी के अपने संकट से कभी पूरी तरह उबर नहीं पाया था। लेकिन 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध से हल्की मन्दी गहरे संकट का रूप लेने लगी थी। अमेरिकी अर्थव्यवस्था ख़ास तौर पर संकट से घिरती जा रही थी। यह संकट वास्तव में अतिउत्पादन का ही संकट था। पूँजीवाद उत्पादन की प्रक्रिया में ही मज़दूर वर्ग को अधिक से अधिक दरिद्र बनाता जाता है, दूसरी ओर वह उन्नत से उन्नत तकनोलॉजी का इस्तेमाल कर उत्पादन को बढ़ाता जाता है और लागत को घटाता जाता है। इस प्रक्रिया में उत्पादकता को बढ़ाकर वह अधिक से अधिक मज़दूरों की छँटनी कर उन्हें सड़क पर धकेलता जाता है। नतीजा यह होता है कि पूरे समाज की बहुसंख्यक आबादी अधिक से अधिक ग़रीब होती जाती है और मुट्ठीभर अमीरज़ादे और अधिक सम्पत्ति बटोरते जाते हैं। समाज की बहुसंख्या के ग़रीब होते जाने और उत्पादन के बढ़ते जाने के बीच अन्तरविरोध पैदा होता है। सवाल यह खड़ा हो जाता है कि मालों से पटे हुए बाज़ार में ख़रीदारी करेगा कौन? अमीरज़ादों को जितनी शाहख़र्ची करनी होती है, वे कर लेते हैं। लेकिन उसकी भी कोई सीमा होती है। उनके हर सुख-सुविधा को ख़रीद लेने के बाद भी बाज़ार सामानों से पटा रहता है लेकिन ख़रीदने वाला कोई नहीं होता, क्योंकि समाज के मज़दूर और निम्न मध्यवर्ग के लोग तो ख़रीदने की क्षमता से लगातार वंचित होते जाते हैं। यही कारण बनता है अतिउत्पादन और मन्दी का। अब दुनियाभर के और ख़ास तौर पर अमेरिका के पूँजीपति वर्ग ने अपने मुनाफ़े को क़ायम रखने के लिए 1960 के दशक में एक नया तरीक़ा निकाला। उन्होंने महँगी उपभोक्ता सामग्रियों, जैसे कि फ्रिज, टी.वी., वाशिंग मशीन, कार आदि ख़रीदने के लिए मध्यवर्ग को ब्याज़ पर ऋण देने की शुरुआत की। इससे मध्यवर्ग ने फिर से थोड़ी ख़रीदारी शुरू की और बाज़ार में फँसी पूँजी वित्तीय पूँजी के धक्के से फिर से घूमनी शुरू हो गयी। लेकिन पहले बैंक मध्यवर्ग के उन्हीं लोगों को ऋण देते थे जिनके पास ब्याज़ चुकाने लायक़ आमदनी होती थी। लेकिन मध्यवर्ग के बीच ऋण का यह व्यापार भी जल्दी ही सन्तृप्त हो गया और लोगों ने ऋण लेकर ऐशो-आराम के सामान ख़रीदने बन्द कर दिये। इसके बाद बैंकों ने हताशा में निम्न मध्यवर्ग के लोगों को ऋण देकर ख़रीदारी करवानी शुरू की। इसके लिए वे अधिक ब्याज़ लेने लगे क्योंकि ऐसे लोगों के दीवालिया होने का ख़तरा भी होता था और इसलिए बैंक ब्याज़ के ज़रिये ही मूलधन की भरपाई जल्दी से जल्दी कर लेना चाहते थे। निम्न मध्यवर्ग के बीच भी ऋण का यह बाज़ार जल्द ही सन्तृप्त हो गया। इसके बाद 2000 के दशक के पूर्वार्द्ध में कुछ बैंकों ने लोगों के ऋण वापसी की क्षमता की परवाह किये बग़ैर अन्धाधुन्ध ऋण देना शुरू कर दिया। यह पूँजीपतियों की हताशा का नतीजा था। मन्दी के हाथों तबाह हो जाने से बचने का और कोई रास्ता भी उनके पास नहीं बचा था। ऋण स्वयं एक बिकाऊ माल बन गया था और विभिन्न बैंकों में आपस में ऋण बेचने को लेकर भी प्रतिस्पर्धा होने लगी थी। नतीजा यह हुआ कि गलाकाटू प्रतिस्पर्धा में बैंकों ने समाज के ग़रीब तबक़ों को भी अन्धाधुन्ध ऋण बाँटे। इसके लिए अमेरिकी बैंकों ने यूरोप और जापान के बैंकों से ऋण लिया, या यूँ कहें कि अपने द्वारा बेचे गये ख़तरनाक ऋणों को इन बैंकों को बेचा (फिर इन बैंकों ने आपस में भी इन ऋणों की जमकर ख़रीद और बिक्री की)। इंग्लैण्ड के बैंक तो स्वयं भी ऐसे निम्नस्तरीय (सबप्राइम) ऋण देने लगे। लेकिन इस खेल का अन्त ख़तरनाक था।

जब अमेरिका के तमाम कमज़ोर तबक़ों के लोगों ने ऋण चुकाने में अक्षमता ज़ाहिर करनी शुरू की, तो अमेरिकी बैंकों ने उनकी सम्पत्ति ज़ब्त करनी शुरू की, ताकि उन्हें फिर से बेचकर अपनी पूँजी को संचरित करते रह सकें। लेकिन मज़ेदार बात यह थी कि अब बाज़ार में इस ज़ब्त सम्पत्ति के लिए पर्याप्त ख़रीदार भी नहीं बचे थे। परिणामस्वरूप बैंकों का पैसा मकानों, कारों, आदि में फँसना शुरू हो गया और उनके पास नक़दी की भारी कमी हो गयी। यहीं से बैंकों का ढहना शुरू हुआ और साइकिल स्टैण्ड में खड़ी साइकिलों की तरह अमेरिका, इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड, आइसलैण्ड, जर्मनी आदि में बैंक, बीमा कम्पनियाँ और अन्य वित्तीय संस्थान एक-एक करके नक़दी की कमी में अपनेआप को दीवालिया घोषित करने लगे। पूरा पूँजीवादी विश्व एक भयंकर वित्तीय संकट की गिरफ़्त में आ गया। बैंकों के ग्राहक बैंकों के ख़िलाफ़ प्रदर्शन करने लगे (पूँजीपतियों ने उत्पादन में कमी लानी शुरू कर दी और छँटनी के कारण बेरोज़गारी बढ़ना शुरू हो गयी)। व्यापारी अपने जोखिम को कम करने के लिए जमाख़ोरी करने लगे और रोज़मर्रा की ज़रूरत के सामान महँगे होने लगे, समाज के निचले वर्गों में भरा गुस्सा फूटकर सड़कों पर आने लगा।

जब स्थिति हाथ से निकलने लगी तब दुनियाभर के पूँजीवादी लुटेरों ने बैठकर आम सहमति बनायी और बैंकों को बचाने के लिए जनता के पैसे से बने सरकारी ख़ज़ाने से अरबों-ख़रबों निकालकर बैंकों को दे दिये। इससे संकट तात्कालिक तौर पर थमा हुआ नज़र आने लगा। लेकिन जल्दी ही वित्तीय संस्थानों, बैंकों और शेयर मार्केट में बैठे परजीवी सटोरियों ने फिर से दाँव लगाना और जुआ खेलना शुरू कर दिया। तभी तमाम विश्लेषक बोलने लगे थे कि बैंकों को बचाकर अमेरिकी, यूरोपीय और दुनियाभर के देशों की पूँजीवादी सरकारों ने एक बुरा उदाहरण पेश किया है और इससे सट्टेबाज़ी और बढ़ेगी और जब यह संकट एक चक्कर पूरा करके फिर वापस आयेगा, तब और अधिक भयंकर रूप धारण कर चुका होगा। और यही हुआ है। आइये देखते हैं कि यह कैसे हुआ है।

21वीं सदी की यूनानी त्रासदी

अमेरिका और इंग्लैण्ड ने 2008 के उत्तरार्द्ध में बैंकों को जनता के पैसों से बेलआउट पैकेज दे-देकर बचाया और यह साबित कर दिया कि पूँजीवादी सरकारें पूँजीपति वर्ग के मामलों का प्रबन्धन करने वाली समितियाँ होती हैं और उनका काम उन्हीं की सेवा करना होता है। लेकिन यूरोपीय आर्थिक संघ में शामिल देशों के लिए इस तरह का बेलआउट पैकेज देना सम्भव नहीं था, क्योंकि यूरोपीय आर्थिक संघ का चार्टर इस बात की आज्ञा नहीं देता है। दूसरी बात, यूरोपीय आर्थिक संघ में शामिल देशों में स्पेन, पुर्तगाल, यूनान, आयरलैण्ड, पोलैण्ड और आइसलैण्ड जैसे देश भी शामिल हैं जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ कमज़ोर हैं और काफ़ी समय से संकटग्रस्त हैं और इनके पास इतना अतिरिक्त सरकारी ख़ज़ाना था भी नहीं, जिससे कि ये बैंकों को बचाने के लिए बेलआउट पैकेज दे पाते। इन कारकों का यूनान में असर यह हुआ कि सरकार ने ज़रूरी सार्वजनिक मदों में कटौती करके, यानी कि जिन मदों से मज़दूरों, छात्रों, और निम्न मध्यवर्गों को सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा का इन्तज़ाम किया गया था, बैंकों को बचाया। फिर इन मदों के लिए उन्हीं बैंकों से भारी ब्याज़ दर पर क़र्ज़ लिया! किसी भी तर्कसंगत मज़दूर, नौजवान या आम नागरिक के लिए यह मज़ाक़िया बात हो सकती है। लेकिन पूँजीपति वर्ग और उनकी 'मैनेजिंग कमेटी' का काम करने वाली सरकारों के लिए यह सामान्य बात है। सरकार होती ही है वित्तीय इजारेदार पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए! इसलिए पहले दीवालिया होने की कगार पर खड़े बैंकों और सटोरियों को जनता की रोज़ी-रोटी में कटौती करके बचाया गया और फिर जनता बग़ावत न कर दे इसलिए उनके लिए बनी योजनाओं के वित्तपोषण के लिए यूनान की सरकार ने इन्हीं बैंकों से भयंकर ब्याज़ दरों पर क़र्ज़ लिया।

आगे सुनिये क्या होता है, इस 21वीं सदी की महान यूनानी त्रासदी में! इन ब्याज़ दरों के भयंकर रूप से ज़्यादा होने और साथ ही वैश्विक संकट के दबाव के कारण यूनानी सरकार के लिए इन क़र्ज़ों को चुकाना मुश्किल होने लगा। परिणामतः यूनान की सरकार ने निजी बैंकों से फिर से और भी ज़्यादा दरों पर क़र्ज़ लिया। इस पूरी प्रक्रिया का नतीजा यह हुआ कि अक्टूबर 2009 में यूनान की सरकार ऋण चुकता न कर पाने की स्थिति में दीवालिया होने की कगार पर खड़ी हो गयी। ऋणदाता बैंकों ने, जिन्हें कुछ समय यूनानी जनता के पैसों से दीवालिया होने से बचाया गया था, यूनान की सरकार से माँग की कि यूनान की सरकार अपनी सभी कल्याणकारी योजनाओं और सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा योजनाओं की मदों में कटौती करे और उन्हें ख़त्म करना शुरू कर दे। सरकार ने ज्यों ही ऐसा करना शुरू किया यूनान के मज़दूर और छात्र-युवा सड़कों पर उतरने लगे। सरकार-विरोधी प्रदर्शन सारे देश में फैल गये और राजधानी में संसद के बाहर भी प्रदर्शन होने शुरू हो गये। थोड़े ही समय में ये प्रदर्शन जगह-जगह हिंसक रुख़ अख़्तियार करने लगे। कई हिस्सों में भूख से परेशान ग़रीब यूनानी जनता ने खाद्यान्न दंगे शुरू कर दिये और दुकानों में लूटपाट होने लगी। मज़दूरों का प्रतिरोध धीरे-धीरे संगठित होने लगा। कई जगहों पर मज़दूरों ने कारख़ानों पर क़ब्ज़ा करने का भी प्रयास किया और कई जगह प्रबन्धन और मालिकान को पीटकर भगा दिया। मज़दूरों के प्रतिरोध का संगठित होना और उसका छात्रों और नौजवानों के आन्दोलन से मिलना यूनान के पूँजीपति वर्ग के लिए ख़तरे की घण्टी थी। यूनान के नये संशोधनवादी प्रधानमन्त्री जॉर्ज पापैण्ड्रू को यह समझ में आ गया कि यूनान अब मज़दूरों और आम जनता पर सटोरियों और दलालों की आर्थिक लफंगई का बोझ और नहीं डाल सकता। नतीजतन, उन्होंने विश्व पूँजीवाद के अन्य सरदारों के सामने स्पष्ट कर दिया कि अब अगर यूनान को बेलआउट पैकेज नहीं दिया गया तो वह यूरोपीय आर्थिक संघ से बाहर निकल जायेगा। यूरोपीय आर्थिक संघ

(पेज 8 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 4 से आगे)

और जुझारूपन को काफ़ी हद तक क्षरित-विघटित कर दिया था।

बात तब और स्पष्ट हो जाती है, जब हम 1946-48 के किसान संघर्षों के देशव्यापी परिदृश्य पर नज़र डालते हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक संक्रमण के उस दौर में किसान जनसमुदाय भूमि-क्रान्ति को आगे गति देते हुए उपनिवेशवाद की रीढ़ तोड़ देने के लिए तैयार था और देश के कई इलाक़ों में लोकयुद्ध की शुरुआत हो सकती थी। ग्रासरूट स्तर पर कम्युनिस्ट संगठनकर्ता ही किसान संघर्षों को नेतृत्व दे रहे थे, पर शीर्ष नेतृत्व के पास उन्हें जोड़कर देश-स्तर पर किसान छापामार संघर्षों और साम्राज्यवाद-विरोधी देशव्यापी जन-विद्रोह की कोई योजना ही नहीं थी। यूँ कहें कि संकल्पशक्ति ही नहीं थी। इस ऐतिहासिक अवसर को चूकने के बाद पार्टी के विपथगमन की प्रक्रिया और तेज़ हो गयी। रही-सही कोर-कसर 1948-50 के दौरान नये महासचिव बी.टी. रणदिवे की "वामपन्थी" भटकावग्रस्त लाइन ने पूरी कर दी। और फिर 1951 से तो पूरी पार्टी ही एक संसदीय वामपन्थी पार्टी बन गयी।

तेभागा, पुनप्रा-वायलार और तेलंगाना

जिस समय कांग्रेस के नेता सत्ता पाने की बेकली में लगातार सौदेबाज़ियों में मशगूल थे और विभाजन का साम्राज्यवादी कुचक्र तेज़ी से सफलता की दिशा में बढ़ रहा था, साम्प्रदायिक विनाशलीला उफान पर थी और भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि लाशों पर से गुज़रकर सत्तासीन होने को बेताब थे, उस समय तेलंगाना, आन्ध्र, केरल, बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश और कई अन्य क्षेत्रों में कम्युनिस्ट नेतृत्व में भूमि-संघर्ष उफान पर थे। इनमें तेलंगाना, तेभागा और पुनप्रा-वायलार के किसान-संघर्ष इतिहास प्रसिद्ध हैं।

बंगाल का तेभागा आन्दोलन असामी काश्तकारों और बटाईदारों (बरगादारों और अधियारों) का आन्दोलन था। उनकी माँग थी कि जोतदारों को दी जाने वाली लगान उपज का एक तिहाई होनी चाहिए। जंगल के आग की तरह यह आन्दोलन सितम्बर 1946 से शुरू होकर जल्दी ही बंगाल के 11 ज़िलों में फैल गया। कलकत्ता और नोआखाली के दंगों के बावजूद इसमें हिन्दू-मुसलमान बरगादारों-अधियारों ने एक साथ मिलकर हिस्सा लिया। पुलिस की ताजी टुकड़ियों और ज़मींदारों के गुण्डों के ख़िलाफ़ जल्दी ही किसानों ने छापामार संघर्ष की राह पकड़ ली। इसमें भाग लेने वाले किसानों की संख्या 50 लाख तक जा पहुँची। आग पर पानी के छींटे मारने के लिए, बंगाल की मुस्लिम लीग सरकार ने बरगादार विधेयक प्रस्तुत किया (जो 1950 में जाकर ही क़ानून बन सका और वह भी प्रभावी ढंग से कभी लागू नहीं हुआ)। यह चाल भी जब काम न आयी तो फ़रवरी 1947 में उसने ज़बरदस्त दमन-चक्र चलाया। 49 किसान शहीद हुए, हज़ारों घायल हुए और गाँवों में बर्बर पुलिस अत्याचार हुए। ग़ौरतलब है कि कांग्रेसियों ने लीग सरकार के इस दमनचक्र पर चूँ तक की आवाज़ नहीं निकाली। किसान प्रतिरोध के लिए हथियारों की माँग कर रहे थे, पर कम्युनिस्ट पार्टी सशस्त्र संघर्ष के लिए तैयार ही नहीं थी। अन्ततः मार्च तक आते-आते उतार के दौर की शुरुआत हो चुकी थी। 27 मार्च को कलकत्ता में नये सिरे से दंगे शुरू होने और 28 मार्च को हिन्दू महासभा द्वारा बंगाल विभाजन के लिए आन्दोलन शुरू किये जाने के बाद तेभागा आन्दोलन का पटाक्षेप सुनिश्चित हो गया।

पुनप्रा और वायलार उत्तरी-पश्चिमी त्रावणकोर के शेरतलाई-अलेप्पी-अम्बालपुझा क्षेत्र के दो गाँव हैं जिन्हें शौर्यपूर्ण किसान संघर्षों के दौरान हुई शहादतों ने अमर बना दिया। इस क्षेत्र में 1946 में कम्युनिस्टों ने नारियल के रेशों का काम करने वाले कामगारों, मछुआरों और खेतिहर मज़दूरों में सशक्त आधार बना लिया था। मज़दूर-किसान संयुक्त मोर्चे का एक शानदार उदाहरण वहाँ तैयार हुआ था। मेहनतकशों ने एकता के बल पर कई उपलब्धियाँ हासिल कर ली थीं। इसी बीच त्रावणकोर रियासत का दीवान रामास्वामी अय्यर अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद स्वयं अपने नियन्त्रण में स्वतन्त्र त्रावणकोर की महत्त्वाकांक्षी योजना बना रहा था। स्थानीय कांग्रेसी नेतृत्व कम्युनिस्ट नेतृत्व वाले मज़दूर-किसान आन्दोलन का धुर विरोधी था और दीवान के साथ समझौतावादी रुख़ अपना रहा था। लेकिन कम्युनिस्ट नेतृत्व ने दीवान के मंसूबों के विरुद्ध प्रचण्ड जनान्दोलन छेड़ दिया। रियासत की सरकार ने बर्बर दमन-चक्र चलाया। आत्मरक्षा की दृष्टि से सताये गये कामगारों के शिविरों में कम्युनिस्ट स्वयंसेवकों ने थोड़ा सैन्य प्रशिक्षण भी देना शुरू किया। 22 अक्टूबर को अलेप्पी-शेरतलाई क्षेत्र में एक राजनीतिक आम हड़ताल की शुरुआत हुई। दो दिन बाद पुनप्रा गाँव के पुलिस कैम्प पर किसान-मज़दूर स्वयंसेवक दस्तों ने हमला करके हथियार छीन लिये। 25 अक्टूबर को मार्शल ला लागू होने के बाद स्वयंसेवकों के मुख्यालय पर सेना ने हमला बोला। पुनप्रा-वायलार के संक्षिप्त ख़ूनी विद्रोह में क़रीब 800 लोग मारे गये। लोग फिर भी लड़ने को तैयार थे, पर कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व के पास वस्तुतः ऐसी कोई योजना थी ही नहीं। बर्बर सैन्य दमन ने इस आन्दोलन को कुचल दिया, लेकिन इसी का नतीजा था कि कांग्रेस और दीवान के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। दीवान रामास्वामी अय्यर भी समझ गया कि स्वतन्त्र त्रावणकोर का मंसूबा मेहनतकश जनता साकार नहीं होने देगी और वह भारत में त्रावणकोर के विलय के लिए तैयार हो गया।

तेलंगाना किसान संघर्ष का फलक तेभागा और पुनप्रा-वायलार से काफ़ी बड़ा था। जुलाई 1946 से अक्टूबर 1951 के बीच तेलंगाना में आधुनिक भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा किसान छापामार संघर्ष हुआ। अपने चरम पर, इस सशस्त्र किसान संघर्ष ने कुल 3,000 गाँवों के 16,000 वर्गमील क्षेत्र को मुक्त करा लिया था जिसकी आबादी क़रीब 30 लाख थी। लगभग डेढ़ वर्षों तक इस क्षेत्र की सारी शासन व्यवस्था किसानों की गाँव कमेटियों के हाथों में थी। हैदराबाद के आसफ़जाही निज़ामों के सामन्ती शासन के अन्तर्गत तेलंगाना के निम्न जातियों के व आदिवासी समुदायों के किसान 'डोरों' (ज़मींदारों), देशमुखों और जागीरदारों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न के शिकार थे। कम्युनिस्टों ने युद्ध के दौरान ही राशन की दुर्व्यवस्था, बेगार (वेट्टी), लगान आदि विविध स्थानीय मसलों को 'आन्ध्र महासभा' के बैनर तले उठाते हुए ग़रीबों में व्यापक आधार बना लिया था। विद्रोह की शुरुआत जुलाई 1946 में विशनूर के अत्याचारी देशमुख के ख़िलाफ़ हुई जो जल्दी ही पूरे तेलंगाना में फैल गयी। 1947 के प्रारम्भ से नियमित सशस्त्र छापामार दस्ते बनाये जाने लगे। अपने चरम काल में इसमें 10,000 ग्राम रक्षा स्वयंसेवक और नियमित दस्तों के 2000 सदस्य थे। अगस्त 1947 से सितम्बर 1948 के बीच का समय संघर्ष के चरमोत्कर्ष का काल था। छापामारों के नियन्त्रण के क्षेत्रों में इस दौरान भूमि पुनर्वितरण के अतिरिक्त सामाजिक- सांस्कृतिक बदलाव की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कोशिशें हुईं। लेकिन इस संघर्ष को आगे ले जाने और देशव्यापी राष्ट्रीय जनवादी मुक्ति संघर्ष की कड़ी बनाने के बारे में कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व की कोई सुचिन्तित-सुसंगत नीति थी ही नहीं। फ़रवरी-मार्च 1948 की दूसरी पार्टी कांग्रेस में दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी की जगह बी.टी. रणदिवे पार्टी महासचिव बने, जिन्होंने किसान छापामार युद्धों के क्षेत्रों के निर्माण एवं फैलाव तथा उन्हें शहरी जनउभारों से जोड़ने की सुसंगत नीति के बजाय, जनवादी और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िलों को मिला देने की थीसिस दी तथा देश-भर में सशस्त्र आम विद्रोह का आह्वान किया। इस विनाशकारी "वाम"-चरमपन्थी लाइन ने पूरे कम्युनिस्ट आन्दोलन और तेलंगाना किसान संघर्ष को भारी नुक़सान पहुँचाया। यह अतिवामपन्थी लाइन वस्तुतः दक्षिणपन्थी भटकाव के लम्बे दौर की एक अतिरेकी प्रतिक्रिया थी। मई 1948 में कम्युनिस्ट पार्टी की आन्ध्र इकाई ने रणदिवे की लाइन का विरोध करते हुए चीनी क्रान्ति की आम दिशा के अनुरूप गाँवों में छापामार संघर्ष के ज़रिये अलग-अलग क्षेत्रों में आधारक्षेत्रों के विकास की लाइन रखी। पर रणदिवे गुट के रहते इस लाइन पर अमल सम्भव नहीं था। तेलंगाना में आन्ध्र कमेटी की लाइन पर काम शुरू हुआ, किन्तु सितम्बर 1948 में भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निज़ाम के आत्मसमर्पण के बाद, 50-60 हज़ार की संख्या और उन्नत हथियारों वाली भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामारों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। गाँवों में बर्बर अमानुषिक दमन का ताण्डव हुआ और अन्ततः छापामार दूरवर्ती जंगलों में बिखर गये। चूँकि ऐसे छापामार संघर्षों के कई इलाक़े विकसित करने की कोई केन्द्रीय पार्टी नीति नहीं थी और आन्ध्र कमेटी के अलग-थलग पड़ जाने के कारण पीछे हटने, बिखर जाने और छापामार संघर्ष के नये दौर की तैयारी की कोई केन्द्रीय योजना नहीं थी, अतः तेलंगाना संघर्ष को अन्ततः त्रासद पराजय और ख़ून के दलदल में धकेल दिया गया था। अपनी ही जनता का बर्बर सैनिक दमन करके नेहरू की सरकार ने अपना वर्ग-चरित्र उघाड़कर रख दिया। पीछे हटने व बिखरने के बावजूद 1950-51 तक छापामार कार्रवाइयाँ जारी रहीं। छापामारों का अन्तिम मोर्चा गोदावरी का वन्य प्रदेश था। मई-जून 1950 में रणदिवे की लाइन की पराजय के बाद कुछ समय के लिए राजेश्वर राव पार्टी महासचिव बने और पार्टी ने आन्ध्र लाइन को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी। ग़लत लाइन के चलते संघर्ष के देशव्यापी विस्तार की सम्भावनाओं का गला घोंटा जा चुका था और नयी बुर्जुआ सत्ता को सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का समय मिल चुका था। संविधान पारित हो चुका था और पहले आम चुनाव की तैयारियाँ हो रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टी संक्रमणकाल का लाभ उठाने का ऐतिहासिक अवसर खो चुकी थी और अब बुर्जुआ संसदीय दायरे में काम करने वाली संशोधनवादी पार्टी बन चुकी थी। विचलन विचारधारा से प्रस्थान बन चुका था। पर यह एक अलग कहानी है। हम अपनी मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं।

1946 में कांग्रेस और लीग अंग्रेज़ों से सौदेबाज़ी करते हुए जब देश के विभाजन का ब्लू प्रिण्ट तैयार कर रहे थे और संविधान सभा में बैठे 11.5 प्रतिशत लोगों के प्रतिनिधि जब बुर्जुआ शासन-विधान की दिशा एवं स्वरूप तय करने की मशक्क़तों में मशग़ूल थे, उस समय तेभागा, तेलंगाना, पुनप्रा- वायलार के अतिरिक्त देश के कई अन्य क्षेत्रों में किसानों के उग्र संघर्ष जारी थे।

1945 के बाद से ही शामराव और गोदावरी पारुलेकर जैसे कम्युनिस्ट कार्यकर्ता ठाणे ज़िले के वरली आदिवासियों के बीच काम कर रहे थे और कई सफल आन्दोलनों का उन्होंने नेतृत्व किया था। पंजाब में लायलपुर ज़िले में असामी काश्तकार किसान सभा के नेतृत्व में लगान घटाने और किसानों के ऋणपत्रों के स्थगन के लिए संघर्ष कर रहे थे। संयुक्त प्रान्त में प्रचण्ड संघर्ष बस्ती और बलिया ज़िलों में चला जहाँ असामी काश्तकार ज़मींदारों द्वारा भूमि-सुधार की पेशबन्दी के लिए शुरू की गयी व्यापक बेदख़लियों के ख़िलाफ़ मैदान में आ गये। जम्मू-कश्मीर में भी नेशनल कांफ्रेंस के नेतृत्व में किसानों द्वारा लगान और ऋण की अदायगी न करने का जनान्दोलन राजा की सत्ता को चुनौती देने वाला संघर्ष बन चुका था।

सार-संक्षेप यह कि जिस समय कांग्रेसी नेता कुलीन जनों और सामन्ती शासकों के प्रतिनिधियों के साथ भावी भारत के संविधान की तैयारी पर गहन वार्ताओं में निमग्न थे और अपने-अपने हितों को लेकर उपनिवेशवादियों और देशी बुर्जुआ वर्ग के बीच समझौतों-सौदेबाज़ियों का गहन दौर जारी था; जिन दिनों 'बाँटो और राज करो' की उपनिवेशवादी नीति की चरम परिणति के तौर पर साम्प्रदायिक दंगों का रक्त-स्नान जारी था और सत्ता के लिए आतुर कांग्रेस न केवल यह भारी क़ीमत चुकाने को तैयार थी बल्कि किसी हद तक वह इसके लिए ज़िम्मेदार भी थी; ठीक उन्हीं दिनों भारत के बहुसंख्यक मज़दूर, किसान और आम मध्यवर्गीय नागरिक जुझारू संघर्षों की उत्ताल तरंगों के बीच थे। अगस्त, 1947 के पहले कांग्रेस और लीग के नेता नौसेना विद्रोह, मज़दूरों के आन्दोलनों और किसानों के संघर्षों के दमन के प्रश्न पर उपनिवेशवादियों के साथ थे। अगस्त, 1947 के बाद कांग्रेसी सत्ता जन-संघर्षों के दमन में उपनिवेशवादियों से एक क़दम भी पीछे नहीं थी। तेलंगाना किसान संघर्ष के बर्बर सैनिक दमन को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

संविधान-निर्माण के इस कालखण्ड का राजनीतिक घटना-प्रवाह भी अपने-आप में इस बात का गवाह था कि भावी भारत का संविधान कितना जनोन्मुखी होगा और इसके आधार पर जो लोकतन्त्र क़ायम होगा वह वास्तव में कैसा लोकतन्त्र होगा!

(अगले अंक में : माउण्टबेटन योजना, विभाजन और आज़ादी, भारतीय संविधान की निर्माण-प्रक्रिया)

तीन नयी महत्त्वपूर्ण बिगुल पुस्तिकाएँ

1.	**राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन**	अभिनव	15.00
2.	**फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?**	अभिनव	15.00
3.	**नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार**	आलोक रंजन	50.00

मँगाने के लिए सम्पर्क करें : **जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

फोन : 0522-2786782, ईमेल : janchetna@rediffmail.com

वेब : http://janchetnaa.blogspot.com

यूनानी मज़दूरों और नौजवानों के जुझारू आन्दोलन के सामने विश्व पूँजीवाद के मुखिया मजबूर

(पेज 6 से आगे)

से निकलने के बाद यूनान यूरो के स्थान पर स्वयं अपनी मुद्रा का उपयोग करने और उसका अवमूल्यन करके और मुद्रा की आपूर्ति बढ़ाकर संकट से फ़िलहाल कुछ समय के लिए निकल पाने में समर्थ हो जाता। लेकिन इससे यूरोपीय संघ में जर्मनी को काफ़ी नुकसान होता, यूरो अन्तरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में बेहद कमज़ोर हो जाता और यूनानी मुद्रा में क़र्ज़ के वापस होने का बैंकों के लिए कोई ख़ास मतलब नहीं होता। इस ख़तरे के अलावा एक और ख़तरा मँडरा रहा था। यह यूनानी संकट अब स्पेन और पुर्तगाल तक पहुँच चुका था। अगर तुरन्त सहायता पैकेज नहीं दिया जाता तो दक्षिणी यूरोप के साथ-साथ केन्द्रीय यूरोप की कई अर्थव्यवस्थाएँ दीवालिया हो जातीं। इस बार मामला बैंकों के दीवालिया होने का नहीं था, बल्कि देशों के दीवालिया होने का था। अमेरिका भी अब बेलआउट पैकेज देने के लिए जर्मनी और फ़्रांस को मनाने में लग गया। इसमें अमेरिका का भी हित था, क्योंकि अमेरिकी बैंकों के 3.6 ट्रिलियन डॉलर यूरोप के उन बैंकों में लगे थे जिन्होंने यूनान, पुर्तगाल और स्पेन की सरकारों को क़र्ज़ दिया था। अगर यूनान की सरकार ऋण देने में अक्षम साबित होती तो यूरोप के इन बैंकों के ढहने के साथ ही, बीमारी से उठने की कोशिश कर रहे अमेरिकी बैंकों को दिल का ज़बरदस्त दौरा पड़ता और पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था भी फिर चरमराकर बैठ जाती। पहले से ही बेरोज़गारी के सामाजिक असन्तोष का कारण बनने से परेशान अमेरिका और अधिक दबाव झेलने की स्थिति में नहीं था। इसीलिए ओबामा साहब मोहतरमा मर्केल और जनाब सरकोज़ी को इस बात पर मनाने लगे कि वे सहायता पैकेज दे दें। अन्ततः बीती 7 मई को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और यूरोपीय संघ ने मिलकर मुख्य रूप से यूनान और साथ ही पुर्तगाल और स्पेन को निजी बैंकों के क़र्ज़ का एक हिस्सा चुकाने के लिए 980 बिलियन डॉलर का बेलआउट पैकेज दिया। शेयर मार्केट के सटोरिये इसके एकदम ख़िलाफ़ थे। इसका कारण यह था कि यूनान के दीवालिया होने की सम्भावना पैदा होते ही इन्होंने इस पर भी सट्टा लगा दिया था कि यूनान दीवालिया होगा या नहीं! वित्तीय पूँजी इस हद तक मुर्दाख़ोर हो सकती है कि एक देश के दीवालिया होने के लिए शेयर मार्केट रूपी जुआघर में दाँव लगाये, इसकी कल्पना पूँजीवाद की ओर से क्षमायाचना करने वालों ने शायद कभी नहीं की होगी! वास्तव में, इन सटोरियों ने एक अलग वित्तीय उपकरण का आविष्कार कर डाला ताकि वे यूनान के दीवालिया होने पर सट्टा लगा सकें। इसे कहते हैं 'क्रेडिट डिफ़ॉल्ट स्वॉप'। इस बॉण्ड की क़ीमत अक्टूबर 2009 में 120 बिन्दु के स्तर से फ़रवरी 2010 में 419 पर पहुँच गयी। जब बेलआउट पैकेज देकर दूरदर्शी पूँजीवादी राजसत्ताओं ने यूनान को बचाया तो ये सटोरिये बहुत मिनमिनाये और भिनभिनाये! लेकिन उन्हें तमाम वित्त मन्त्री और विशेषज्ञ यह समझाने में अभी भी लगे हुए हैं कि पूँजीवाद की दीर्घकालिक सेहत में अभी वे थोड़ा नुक़सान उठा लें वरना न तो शेयर मार्केट रह जायेगा, न सटोरिये और न ही मुनाफ़े की व्यवस्था।

इस पैकेज के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि यूनानी सरकार अपने देश में कुछ कल्याणकारी नीतियाँ जारी रख सके और दूसरा उन बैंकों को दीवालिया होने से बचा लिया जाये, जिन्होंने यूनानी सरकार को क़र्ज़ दिया था (जो वस्तुतः यूनानी आम जनता का ही पैसा था!)। इस तरह एक तीर से दो निशाने लगाये गये। तात्कालिक तौर पर बैंकों को भी बचा लिया गया और साथ ही जनता के असन्तोष पर क़ाबू पाने का काम भी हो गया।

लेकिन अभी से ही विशेषज्ञ कहने लगे हैं कि यह सिर्फ़ मरणासन्न मरीज़ को बस ऑक्सीजन देने जैसा है। बेलआउट पैकेज के रूप में भारी मात्रा में नक़दी मिलते ही बैंक और तमाम वित्तीय संस्थान उन्हीं कारगुज़ारियों में फिर लग गये हैं, जिनके कारण वे पिछले दो वर्षों में दो बार दीवालिया होने की कगार पर पहुँच गये थे। लेकिन इन लालची मुनाफ़ाख़ोर बैंकरों को अपनी प्रबन्धन समितियों, यानी पूँजीवादी सरकारों पर पूरा भरोसा है कि जब भी वे जुए में बरबाद होने और दीवालिया होने की कगार पर पहुँचेंगे तो ये सरकारें जनता की जेब पर डाका डालकर उन्हें बचा लेंगी। लेकिन यूनान के मामले में बेलआउट पैकेज देने की क़ीमत जर्मन और फ़्रांसीसी जनता को चुकानी पड़ी। ऐसा हर बार सम्भव नहीं होगा। और इधर का माल उधर और उधर का माल इधर करने से संकट ख़त्म नहीं होता है, बल्कि केवल कुछ देर के लिए टल जाता है और अगली बार और भयंकर रूप आता है। पहले यह समय एक-डेढ़ दशक का हुआ करता था, लेकिन साम्राज्यवाद के और अधिक मरणासन्न होने के साथ ही यह समय अब एक-दो साल का हो गया है। हर साल-दो साल पर विश्व पूँजीवाद भयंकर संकट का शिकार हो रहा है। नये सहस्राब्दी का बीता एक दशक इसी बात का गवाह है। लेकिन हर संकट विश्वभर के मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता को यह अहसास दिलाता जा रहा है कि पूँजीवाद के रहते उनकी बरबादी का कोई अन्त नहीं है और इसका विकल्प ढूँढ़े बग़ैर गुज़ारा नहीं है। इस बात का अहसास तीसरी दुनिया के ग़रीब देशों में तो गहरा रहा ही है, लेकिन भूमण्डलीकरण के रूप में साम्राज्यवाद की अन्तिम अवस्था के आगे बढ़ते जाने के साथ विकसित देशों में पीछे की क़तार में खड़े देशों में भी गहराता जा रहा है, मिसाल के तौर पर दक्षिणी और मध्य यूरोप के देश।

21वीं सदी की इस 'यूनानी त्रासदी' ने साफ़ कर दिया है कि हर बीतते पल के साथ पूँजीवाद अधिक से अधिक परजीवी, मरणासन्न और खोखला होता जा रहा है। साथ ही, यूनानी संकट ने यह भी साफ़ कर दिया है कि विश्व साम्राज्यवाद का संकट टलने या थमने वाला नहीं है। यह पूँजीवाद का अन्तकारी रोग है जो पूँजीवाद के अन्त के साथ ही समाप्त होगा।

दिल्ली के बादाम मज़दूरों का ऐतिहासिक आन्दोलन और मज़दूर आन्दोलन की भावी दिशा

(पेज 5 से आगे)

हाल ही में पूर्वांचल के सबसे बड़े कारख़ाना मज़दूर आन्दोलनों में से एक को नेतृत्व दिया (गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन)। इसलिए यह कोई नहीं कह रहा है कि कारख़ाना मज़दूरों के संघर्ष नहीं किये जायें। सिर्फ़ इतना कहा जा रहा है कि कारख़ाना मज़दूरों के संघर्षों को भी कारगर तरीक़े से एक मुक़ाम पर पहुँचाने के लिए यह ज़रूरी है कि उनकी पेशागत और इलाक़ाई यूनियनें बनायी जायें। ऐसी यूनियनें मज़दूरों की राजनीतिक चेतना के स्तरोन्नयन के काम को किसी भी कारख़ाना आधारित ट्रेड यूनियन से अधिक कारगर तरीक़े से कर सकती है। जिन मुद्दों को हमारे "इन्क़लाबी कॉमरेड" सुधारवादी और एनजीओ मार्का मुद्दे कहते हैं, वे ऐसे मुद्दे हैं जिन पर सघन और व्यापक राजनीतिकरण किया जा सकता है। यह तो एक त्रासदी और विडम्बना है कि शिक्षा, चिकित्सा, सैनीटेशन, शौचालय, आदि जैसे नागरिक अधिकारों को आज एनजीओ और सुधारवादी ले उड़े हैं। इन्हें वास्तव में सर्वहारा क्रान्तिकारियों को उठाना चाहिए था। यह कोई संघर्ष को उत्पादन के क्षेत्र से उपभोग के क्षेत्र में ले जाना नहीं है, जैसाकि हमारे "इन्क़लाबी साथी" समझते हैं। वे मार्क्सवाद की यह बुनियादी समझदारी भूल जाते हैं कि पूँजीवादी समाज में श्रमशक्ति भी एक माल होती है। इस माल के पुनरुत्पादन का लोकेशन मज़दूरों की बस्तियाँ और रिहायशी इलाक़े हैं। यह अनायास नहीं है कि सर्वहारा वर्ग के सबसे पहले सचेत आन्दोलनों में शिरकत करने वाली भारी मज़दूर आबादी बड़े कारख़ानों में असेम्बली लाइन पर काम करने वाला मज़दूर नहीं था, चाहे वह शिकागो के मज़दूरों का आन्दोलन हो, पेरिस कम्यून या फिर इंग्लैण्ड का चार्टिस्ट आन्दोलन। इनमें शिरकत करने वाले अधिकांश मज़दूर छोटी-छोटी वर्कशॉपों में काम करते थे या स्वरोज़गार करते थे।

कुछ लोग समझते हैं कि असेम्बली लाइन के विखण्डित होकर ग्लोबल असेम्बली लाइन में तब्दील होने का अर्थ यह है कि उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं हो रहा है। यह बड़े पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन की बड़ी यान्त्रिक समझदारी है। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन या माओ ने कहीं नहीं लिखा है कि बड़े पैमाने का उत्पादन सिर्फ़ एक ही रूप में, यानी कि आधुनिक फ़ोर्डिस्ट रूप में हो सकता है। फ़ोर्डिस्ट उत्पादन के ह्रास और ग्लोबल या फ़्रैग्मेण्टेड असेम्बली लाइन का यह अर्थ नहीं है कि चूँकि एक छत के नीचे मज़दूर बड़ी संख्या में इकट्ठा नहीं हो रहे हैं इसलिए उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं हो रहा है। उत्पादन के पैमाने का आकार कारख़ाने की छत के आकार से नहीं तय होता। यह पूँजी निवेश, उत्पादन, विनियोजन के चक्र के आकार से तय होता है। यह चक्र भौतिक तौर पर फ़्रैग्मेण्टेड हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्पादन का पैमाना छोटा हो गया। उत्पादन और अधिक बड़े पैमाने पर हो रहा है। मज़दूरों को फ़ैक्टरी फ़्लोर पर संगठित होने से रोकने की कोशिश करके पूँजीवाद मज़दूरों को संगठित होने से नहीं रोक सकता। और मार्क्सवाद भी कहीं यह नहीं कहता कि मज़दूर अगर संगठित होंगे तो फ़ैक्टरी फ़्लोर पर ही संगठित होंगे। उन्हें उनकी रिहायश की जगहों पर पेशा-पारीय, कारख़ाना-पारीय और क्षेत्र-पारीय आधार पर संगठित किया जा सकता है। इस रूप में संगठित मज़दूर कारख़ाने की लड़ाई भी लड़ सकते हैं, किसी पूरे पेशे के मज़दूरों की माँगों के लिए भी लड़ सकते हैं और अपने नागरिक अधिकारों के लिए भी लड़ सकते हैं (जिन्हें हमारे "इन्क़लाबी साथी" एनजीओ मार्का मुद्दा मानते हैं!), जो वास्तव में मज़दूरों की चेतना को बेहद ऊपर उठाने में सक्षम हैं। दरअसल, लेनिन ने स्वयं 'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' में लिखा है कि बुर्जुआ जनवाद ही वह स्पेस है जिसमें मज़दूर वर्ग अपनी राजनीति को सबसे व्यापक और सघन रूप में चला सकता है। बुर्जुआ जनवाद जो भी जनवादी और नागरिक अधिकार देता है, मज़दूर वर्ग को किसी भावी "ठोस वर्ग संघर्ष" के इन्तज़ार में उस पर अपना दावा कभी नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसे मुद्दों पर संघर्ष मज़दूर वर्ग और पूँजीवादी राजसत्ता को सीधे आमने-सामने खड़ा करते हैं और पूँजीवादी राजसत्ता के चरित्र को मज़दूर वर्ग के सामने कहीं ज़्यादा साफ़ करते हैं। इस प्रकार मज़दूर वर्ग कहीं अधिक तेज़ी से वर्ग सचेत बनता है और अपने ऐतिहासिक लक्ष्य को समझता है। दूसरी बात यह कि मज़दूर आन्दोलन जिन नागरिक अधिकारों के मुद्दों को उठायेगा, वे प्रियदर्शिनी मट्टू और जेसिका लाल के लिए न्याय की माँग जैसे मध्यवर्गीय मुद्दे नहीं होंगे। उनका भी एक वर्ग-चरित्र होगा। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन जिन नागरिक मुद्दों को उठायेगा उनका रिश्ता मज़दूरों के भौतिक, जैविक और सांस्कृतिक पुनरुत्पादन से होगा। शिक्षा, चिकित्सा, सैनीटेशन, आवास ऐसे ही मुद्दे हैं जो मज़दूरों के इंसानी जीवन के अधिकार के सवाल को उठाते हैं। अगर आज एनजीओपन्थी इन मुद्दों को सुधारवादी तरीक़े से उठाकर वर्ग चेतना को कुन्द कर रहे हैं, तो यह एक त्रासदी है। ऐसा नहीं है कि इन मुद्दों पर एनजीओ वालों का पेटेण्ट है। ये अपनेआप में कोई मध्यवर्गीय माँगें नहीं हैं। ये वास्तव में सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक माँगें हैं जो सीधे पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा करती हैं। लेकिन अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद के कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी होने की बड़ी क़ीमत यह रही कि ये मुद्दे मज़दूर आन्दोलन के चार्टर से ग़ायब हो गये। लेकिन ऐतिहासिक तौर पर ऐसा नहीं रहा है (हम सुझाव देंगे कि हमारे "इन्क़लाबी साथी" चार्टिस्ट आन्दोलन के माँगपत्रक का अध्ययन करें)। 21वीं सदी में तो ये मुद्दे और प्रमुखता के साथ मज़दूर वर्ग के चार्टर में होने चाहिए। मज़दूर वर्ग अगर बुर्जुआ समाज के भीतर नागरिक पहचान पर अपना दावा छोड़ता है, तो वह संघर्ष के एक बहुत बड़े उपकरण से हाथ धोयेगा। लेनिनवादी जनदिशा की सोच भी इस अर्थवादी समझदारी का निषेध करती है।

हमारे "इन्क़लाबी साथी" यह तर्क भी देते हैं कि उन्नत सर्वहारा वर्ग सिर्फ़ बड़े कारख़ानों का संगठित मज़दूर वर्ग है और इसलिए हिरावल की भूमिका यही निभायेगा। यह बात द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले के समय के लिए निश्चित रूप से एक हद तक कही जा सकती थी। लेकिन आज के समय में असंगठित सर्वहारा वर्ग कोई पिछड़ी चेतना वाला सर्वहारा वर्ग नहीं है। यह भी उन्नत मशीनों पर और असेम्बली लाइन पर काम करता है। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह यह काम लगातार और किसी बड़े कारख़ाने में ही नहीं करता। उसका कारख़ाना और पेशा बदलता रहता है। इससे उसकी चेतना पिछड़ती नहीं है, बल्कि और अधिक उन्नत होती है। यह एक अर्थवादी समझदारी है कि जो मज़दूर लगातार बड़े कारख़ाने की उन्नत मशीन पर काम करेगा, वही उन्नत चेतना से लैस होगा। उन्नत मशीन और असेम्बली लाइन उन्नत चेतना का एकमात्र स्रोत नहीं होतीं। आज के असंगठित मज़दूर का साक्षात्कार पूँजी के शोषण के विविध रूपों से होता है और यह उनकी चेतना को गुणात्मक रूप से विकसित करता है। उनका एक अतिरिक्त सकारात्मक यह होता है कि वे पेशागत संकुचन, अर्थवाद, ट्रेडयूनियनवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद जैसी ग़ैर-सर्वहारा प्रवृत्तियों का शिकार कम होते हैं और तुलनात्मक रूप से अधिक वर्ग सचेत होते हैं। इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि बड़े कारख़ानों की संगठित मज़दूर आबादी के बीच राजनीतिक प्रचार की आज ज़रूरत है और इसके ज़रिये मज़दूर वर्ग को अपने उन्नत तत्त्व मिल सकते हैं। लेकिन आज का असंगठित मज़दूर वर्ग भी 1960 के दशक का असंगठित मज़दूर वर्ग नहीं है जिसमें से उन्नत तत्त्वों की भर्ती बेहद मुश्किल हो। यह निम्न पूँजीवादी मानसिकता से ग्रसित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का श्रेष्ठताबोध है कि वे इस मज़दूर को पिछड़ा हुआ मानते हैं।

अन्त में हम यही सुझाव देना चाहेंगे कि हमारे "इन्क़लाबी साथी" किन्हीं कतिपय बुद्धिजीवियों या संगठनों के पुतलों पर बमबारी बन्द करके आज की ठोस सच्चाइयों से रूबरू हों और अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद के दलदल से बाहर निकलकर क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के सार से सम्बन्ध पुनर्स्थापित करें। साथ ही, तर्कों को उनकी बारीकियों समेत समझकर ही उनकी आलोचना का बीड़ा उठाया जाना चाहिए।

छत्तीसगढ़ की औद्योगिक नीति 2009-2014

पूँजीवादी लूट व शोषण और मेहनतकश ग़रीबों के विस्थापन के लिए रास्ता साफ़ करने का फ़रमान

● छत्तीसगढ़ पर्यवेक्षक

हाल ही में छत्तीसगढ़ की रमण सिंह की सरकार ने अगले पाँच वर्षों के लिए छत्तीसगढ़ की औद्योगिक नीति का एलान किया। इस नीति की मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट करने वाला एक दस्तावेज़ भी साथ में जारी किया गया। इस नीति का उद्योग जगत (यानी, कारपोरेट घरानों के मुखियाओं और तमाम पूँजीपतियों) ने खुले दिल से स्वागत किया और छत्तीसगढ़ सरकार को एक निवेश-अनुकूल सरकार बताया। विभिन्न बुर्जुआ और संसदीय वामपन्थी दलों से जुड़े मज़दूर संगठनों ने इस नीति की निन्दा की। लेकिन यह एक औपचारिकता मात्र थी, क्योंकि किसी भी मज़दूर संगठन ने इस नीति का सांगोपांग विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया।

जिन नीतियों के कारण छत्तीसगढ़ पिछले कई वर्षों से मज़दूरों, आदिवासियों और अन्य ग़रीबों के भयंकर असन्तोष का केन्द्र बना रहा है, इस नयी औद्योगिक नीति में छत्तीसगढ़ सरकार ने उन्हीं नीतियों को और ज़ोर-शोर से लागू करने की बात की है। ये नीतियाँ हैं छत्तीसगढ़ के प्राकृतिक और मानव संसाधनों को देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों को बेचने की नीतियाँ। इन्हीं नीतियों की एक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यह राज्य उस वामपन्थी दुस्साहसवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रभाव क्षेत्रों में से एक बना हुआ है, जिसे सरकार और कारपोरेट मीडिया "माओवाद" कहता है; इन्हीं नीतियों के कारण छत्तीसगढ़ में निवेश करने वाली तमाम कम्पनियों को सभी श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर मज़दूरों के बेरोकटोक शोषण की आज़ादी मिली हुई है; इन नीतियों के ही कारण राज्य के तमाम प्राकृतिक संसाधनों को अन्धाधुन्ध दोहन के लिए इजारेदार पूँजी के रहमोकरम पर छोड़ दिया गया है; और इन्हीं नीतियों के कारण छत्तीसगढ़ के मज़दूरों और आदिवासियों समेत आम मेहनतकश जनता में भयंकर गुस्सा पनप रहा है। "माओवाद" के दमन के नाम पर जो ऑपरेशन ग्रीन हण्ट शुरू किया गया है, उसका वास्तविक लक्ष्य नक्सलवादी ताक़तों का दमन और सफ़ाया नहीं है। इसका असली मक़सद है राज्य की अकूत प्राकृतिक सम्पदा और श्रम शक्ति को इजारेदार पूँजी की लूट के लिए थाली में परोसकर रखने के रास्ते में आने वाले सभी प्रतिरोधों को कुचल कर रख देना और सरकार की भाषा में बात करें तो एक "निवेश-अनुकूल वातावरण" पैदा करना। ऐसा वातावरण पैदा करने के लिए निश्चित रूप से व्यवस्था को हर उस ताक़त को ज़मींदोज़ करना होगा जो उसके रास्ते में बाधा बन रही है। छत्तीसगढ़ के "माओवाद"-प्रभावित क्षेत्रों में जनता अपने जीवन के लिए लड़ने को मजबूर कर दी गयी है। आज अगर उनके जीवन के प्रश्न को लेकर लड़ने के लिए "माओवाद" की जगह कोई और ताक़त मौजूद होती, तो वे उसके साथ खड़े होते। ऑपरेशन ग्रीन हण्ट का वास्तविक उद्देश्य है आम जनता के हर प्रकार के प्रतिरोध को कुचलकर पूँजी के प्रवेश के लिए एक सुगम रास्ता तैयार करना। सरकार को इसके लिए एक बहाने की आवश्यकता थी और "माओवाद" से बेहतर बहाना और कोई नहीं हो सकता है। जबकि सच्चाई यह है कि "माओवाद" का प्रभाव-क्षेत्र बनने से पहले भी राज्य की आदिवासी जनता को शासकीय बर्बर दमन का सामना करना पड़ रहा था। इस क्षेत्र में पूँजीवादी विकास के लिए छत्तीसगढ़ राज्य को इस समय सरकार द्वारा आदिम पूँजी संचय की उसी प्रक्रिया के अधीन कर दिया गया है, जिसके अधीन पूँजीवाद अपने आरम्भिक विकास के लिए हर क्षेत्र को करता है। पूँजीवाद अपनी प्रकृति से ही असमान विकास करता है और भारत के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवाद के मामले में तो यह बात और भी प्रत्यक्ष रूप से लागू होती है। प्रमुख उत्पादन पद्धति के रूप में स्थापित होने के लगभग पाँच दशक बाद भी भारत के तमाम इलाक़ों में अभी प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियाँ या उनके अवशेषों की मौजूदगी है। आज नहीं तो कल इन सभी छोटे-छोटे खित्तों को पूँजी की सार्वभौमीकरण करने वाली गति के अधीन आना ही है। यह पूरी प्रक्रिया निश्चित रूप से एक बेहद उथल-पुथल भरी प्रक्रिया होगी क्योंकि इस पूरी प्रक्रिया के केन्द्र में आम जनता की ज़रूरतें और उनका कल्याण नहीं, बल्कि देशी-विदेशी कारपोरेट जगत के मुट्ठी-भर धनपशुओं का अतिमुनाफ़ा है। और जब इस मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर और जनता की राय को कूड़े के डिब्बे में फेंककर लोगों को जबरन उनके जीविकोपार्जन के साधनों और स्थानों से विस्थापित किया जायेगा, प्रताड़ित किया जायेगा, तो लाज़िमी है कि वे लड़ेंगे, और जो उन्हें लड़ता हुआ दिखेगा उसके साथ मिलकर लड़ेंगे। ऐसे में सरकार अगर नक्सलवाद को नेस्तनाबूद कर भी देती है, तो लोग लड़ना नहीं छोड़ेंगे। वे अपनी ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई को छोड़ ही नहीं सकते हैं। लड़ना उनके लिए *चयन* का नहीं बल्कि *बाध्यता* का प्रश्न है।

इस नीति के दस्तावेज़ में राज्य सरकार ने अपनी बातें बिना किसी घुमाव-फिराव के पूँजीपतियों की प्रबन्धन समिति के तौर पर रखी हैं। कहीं कोई ढाँप-तोप करने की ज़रूरत महसूस नहीं की गयी है। दस्तावेज़ की शुरुआत छत्तीसगढ़ की प्राकृतिक समृद्धि के बखान से होती है। पूँजी निवेश के लिए कम्पनियों को रिझाने के लिए बताया जाता है कि छत्तीसगढ़ हर प्रकार के प्राकृतिक संसाधन के मामले में सर्वाधिक समृद्ध राज्यों में से एक है और राज्य सरकार द्वारा उसके "योजनाबद्ध दोहन" से पूरा राज्य "प्रगति के नये सोपानों की ओर अग्रसर" है। छत्तीसगढ़ के खनिज संसाधनों, जंगलों, नदियों के जाल, विद्युत के आधिक्य, तेज़ी से उन्नत होती औद्योगिक अवसंरचना और छत्तीसगढ़ की अनुकूल भौगोलिक स्थिति के बारे में इस तरह बताया गया है, जैसेकि उसे मुनाफ़ाख़ोरों को ललचाने के लिए थाल में परोसकर रखा जा रहा हो।

इसके बाद 'प्रस्तावना' में ही छत्तीसगढ़ सरकार ने एक बेहद ईमानदार आत्मस्वीकृति की है। दस्तावेज़ कहता है कि प्रस्तुत औद्योगिक नीति की रूपरेखा तैयार करने के लिए **"राज्य के उद्योग संघों, प्रमुख उद्योगपतियों, विभागीय अधिकारियों, राज्य शासन के औद्योगिक विकास से सम्बन्धित विभाग प्रमुखों आदि के साथ विचार-विमर्श किया गया है।"** यह कथन स्पष्ट कर देता है कि सरकार ने औद्योगिक नीति के सूत्रीकरण के लिए किसी भी ट्रेड यूनियन, मज़दूरों के संगठनों और नागरिक संगठनों से विचार-विमर्श की कोई आवश्यकता नहीं समझी है। जिन लोगों की राय (या निर्देश!) को छत्तीसगढ़ राज्य की औद्योगिक नीति के निर्माण में शामिल किया गया है, वे राज्य के पूँजीपतियों के मंच और नौकरशाही के विभिन्न संस्तर हैं। बताने की ज़रूरत नहीं है कि नौकरशाही किनके हितों की सेवा में संलग्न रहती है। 'प्रस्तावना' में ही सरकार ने पूँजीपतियों और भावी निवेशकों को यह यक़ीन दिलाने की पूरी कोशिश की है कि उनके वर्ग हितों का पूरा ध्यान रखा गया है और छत्तीसगढ़ राज्य में मुनाफ़ा पीटने के काम में हर प्रकार की "बाधा" (आगे हम देखेंगे कि ये बाधाएँ क्या हैं!) को हटाने के लिए सरकार प्रतिबद्ध है। प्राकृतिक और मानव संसाधन को लूटने के लिए हर प्रकार से अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिए सरकार ने मालिक वर्ग को निश्चिन्त करने का हर सम्भव प्रयास किया है।

'प्रस्तावना' के बाद दस्तावेज़ औद्योगिक नीति के **'उद्देश्य'** की चर्चा पर आता है। इस हिस्से में भी सरकार ने छत्तीसगढ़ में निवेश की गुलाबी तस्वीर को पेश करने का काम जारी रखा है। हमें बताया जाता है कि औद्योगिक मशीनरी के सुगम और बाधारहित प्रचालन के लिए बुनियादी और औद्योगिक अधोसंरचना के निर्माण और उसमें **निजी क्षेत्र के योगदान** को सुनिश्चित किया जायेगा। स्पष्ट है कि अवसंरचनात्मक ढाँचे के निर्माण के तहत सड़कों, एक्सप्रेस वे, औद्योगिक उत्पादों के परिवहन, भण्डारण आदि से लेकर उनके प्रसंस्करण तक के लिए जो विशालकाय परियोजनाएँ लागू की जायेंगी, उनमें सरकार उन-उन कामों को छोड़कर जिसमें तत्काल और ज़बरदस्त मुनाफ़ा मिलेगा, न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति पर अमल करेगा। तात्पर्य यह है कि निर्माण कार्य के दैत्याकार प्रोजेक्टों में ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाने का पूरा अवसर निर्माण-क्षेत्र की इजारेदार कम्पनियों को दिया जायेगा। मतलब यह कि गैमन इण्डिया, लार्सन एण्ड टूब्रो, आदि जैसी कम्पनियों के लिए भारी मुनाफ़ा छत्तीसगढ़ राज्य में इन्तज़ार कर रहा है। इसके बाद सरकार निर्यात सेक्टर के पूँजीपतियों को भरोसा दिलाती नज़र आती है कि निर्यात को बढ़ावा देने के लिए "अनुकूल वातावरण और उपयुक्त अधोसंरचना" का विकास किया जायेगा। **"अनुकूल वातावरण"** तैयार करने से सरकार का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि विशेष निर्यात क्षेत्र बनाये जायेंगे, जिसमें, सरकारी भाषा में कहें तो श्रम क़ानूनों का "सुगमीकरण और सरलीकरण" किया जायेगा! सभी मज़दूर जानते हैं कि श्रम क़ानूनों के "सुगमीकरण/सरलीकरण" का क्या मतलब है? इसका अर्थ होता है श्रम क़ानूनों का सफ़ाया करके मुनाफ़ा कमाने के रास्ते को सुगम और सरल बनाना। इस दस्तावेज़ में आगे छत्तीसगढ़ सरकार ने इसी बात को एकदम नंगे शब्दों में कह दिया है।

इसके बाद नीति के उद्देश्यों का ही बयान करते हुए सरकार अप्रवासी भारतीय पूँजीपतियों और शत-प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेशकों को यह आश्वासन देती है कि छत्तीसगढ़ में उन्हें अन्य किसी राज्य से ज़्यादा छूटें, राहतें और अनुकूल वातावरण मिलेगा! ज़ाहिर है, कि छत्तीसगढ़ सरकार का इरादा राज्य में निवेश करने वाली देशी-विदेशी कम्पनियों को कर, उत्पादन शुल्क, कस्टम ड्यूटी आदि में भारी छूट देने और साथ ही, बेहद मामूली ब्याज़ दरों पर क़र्ज़ देने और साथ ही श्रम क़ानूनों को लागू करने के अवरोध को ख़त्म कर देने का है। अर्थशास्त्र की सामान्य समझदारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि करों, उत्पादन/कस्टम शुल्कों, और नाममात्र के ब्याज़ पर क़र्ज़ देने का अर्थ है राज्य सरकार को होने वाला भारी राजस्व घाटा। और जो इतना समझ लेगा, वह यह भी जानता है कि राज्य सरकार अपनी आमदनी में होने वाले घाटे को जनता की जेब से वसूल करेगी। इसके अतिरिक्त, इन कम्पनियों को अपनी परियोजनाओं के निर्माण के लिए भूमि अधिग्रहण में भी हर क़िस्म की सुविधा दी जायेगी। सरकार ने दस्तावेज़ में आगे कहा है कि भूमि अधिग्रहण की पूरी प्रक्रिया को बेहद आसान और हल्का बना दिया जायेगा। इसके लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किये जायेंगे जो समयबद्ध सीमा में काम का निपटारा करेंगे। काश, मज़दूरों के साथ होने वाले औद्योगिक विवाद, वेतन के मारे जाने और श्रम क़ानूनों के उल्लंघन आदि के निपटारे के लिए भी राज्य सरकार कोई समय-सीमा तय करती! लेकिन ऐसी आशा करना, वह भी पूँजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' के तौर पर नंगे रूप में काम कर रही एक सरकार से, लगभग पागलपन की श्रेणी में आयेगा। ज़ाहिर है, कि सरकार तो श्रम क़ानूनों को तिलांजलि देकर परिभाषा के धरातल पर ऐसे विवादों को ही ख़त्म कर देना चाहती है। यानी कि अब भी मालिक मज़दूरों के साथ उसी तरह, बल्कि उससे भी बुरी तरह से अन्याय करेगा, लेकिन क़ानून की निगाह में वह कोई विवाद माना ही नहीं जायेगा क्योंकि इस अन्याय को ही क़ानूनी जामा पहना दिया जायेगा। राज्य पूँजीपतियों के अधिनायकत्व के उपकरण के रूप में यहाँ स्पष्ट रूप से दिख रहा है।

'उद्देश्य' शीर्षक के तहत अन्त में एक बिन्दु जोड़ दिया गया है कि समाज के पिछड़े तबकों जैसे दलितों, आदिवासियों, लघु उद्यमियों, महिलाओं के लिए सरकार क्या कर रही है। इसके तहत सरकार ने बस एक जुमला फेंक दिया है – इनको "मुख्य धारा" में लाया जायेगा। जी हाँ, उसी तरह जैसे छत्तीसगढ़ के आदिवासियों को "मुख्य धारा" में लाया जा रहा है! इसके अतिरिक्त यह भी वायदा किया गया है कि नक्सलवाद से प्रभावित परिवारों को आर्थिक प्रोत्साहन और विशेष सुविधाएँ दी जायेंगी!

उद्देश्यों के प्रतिपादन के बाद दस्तावेज़ **'रणनीति'** के बारे में बताता है। छत्तीसगढ़ सरकार गर्व से बताती है कि राज्य के औद्योगिक विकास के लिए नये औद्योगिक क्षेत्र स्थापित किये जायेंगे और इसके लिए ज़मीन आरक्षित की जायेगी। "ज़मीन आरक्षित करने" का अर्थ समझाने की आवश्यकता नहीं है, हम सभी जानते हैं। इसके अतिरिक्त, "विशिष्ट औद्योगिक पार्कों" की स्थापना की जायेगी। ज़ाहिर है कि इन "विशिष्ट औद्योगिक पार्कों" की "विशिष्टता" इस बात में निहित होगी कि इनमें कम्पनियों को हर तरह के कर, ब्याज़, श्रम क़ानून, क्लियरेंस आदि के झंझट से छुटकारा मिल जायेगा। मुनाफ़े के चक्के के धुरे में सरकार ने हर प्रकार का तेल और ग्रीज़ उड़ेल दिया है! उत्पादन की जगह पर हर प्रकार के सिरदर्द से छुटकारे के वायदे के बाद सरकार कम्पनियों को यक़ीन दिलाती है कि उत्पादन के बाद उसे विपणन के क्षेत्र तक पहुँचाने के लिए परिवहन की उत्तम व्यवस्था की जायेगी। इसका अर्थ है कि सरकार औद्योगिक क्षेत्रों के उत्पादों को प्रमुख विपणन बिन्दुओं तक पहुँचाने के लिए एक्सप्रेस वे, टोल वे, आदि-आदि का निर्माण करेगी। जनता तो इन राजमार्गों पर चल नहीं पायेगी, लेकिन इसका निर्माण जनता के पैसों से ही होगा। अवसंरचना के विकास के नाम पर सरकार ने उस अवधारणा का उपयोग करने की बात की है जो पूरे देश में जनता के लिए चुटकुला बन चुका है। इस चुटकुले का नाम है **पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप**। यह नाम पहली बार सुनने में तो बहुत अच्छा लगा था। ऐसा लगा था मानो नीति-निर्धारण और मुनाफ़े में हिस्सेदारी के लिए जनता के पक्ष को शामिल किया जा रहा है। लेकिन इस अवधारणा के कार्यान्वयन के कुछ प्रारम्भिक मॉडल देखकर ही समझ में आ गया कि इसका अर्थ क्या है। पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप का अर्थ एक ऐसी साझीदारी है जिसमें सारी लागत उठायेगी पब्लिक और सारा मुनाफ़ा चाँपेगा प्राइवेट! दिल्ली से लेकर उत्तर प्रदेश तक में जहाँ-जहाँ इसे लागू किया गया

(पेज 10 पर जारी)

छत्तीसगढ़ की औद्योगिक नीति 2009–2014

(पेज 9 से आगे)

है, वहाँ यही हुआ है। "पब्लिक" की ओर से भागीदारी करती है सरकार जो जनता से वसूले गये धन से अवसंरचना के निर्माण का बड़ा ख़र्च उठाती है, किसान जनता से बलात् औनी-पौनी क़ीमतों पर ज़मीन लेकर पूँजीपतियों को मुहैया कराती है। "प्राइवेट" के नाम पर पूँजीपति उन कामों को अपने ज़िम्मे लेते हैं, जिनमें कम लागत हो और निर्माण में लगे मज़दूरों को निचोड़ने के मनमाने अवसर अधिकाधिक हों। ज़ाहिर है कि जब पूरा अवसंरचनात्मक ढाँचा खड़ा हो जाता है तो उसका इस्तेमाल प्राइवेट सेक्टर के उद्योग मनमानी शर्तों पर अतिलाभ निचोड़ने के लिए करते हैं। यह सब होता है विकास के नाम पर, लेकिन व्यापक जनता को मिलती है सिर्फ़ विस्थापन की विभीषिका और उजरती ग़ुलामी का नारकीय जीवन।

तमाम असाधारण और अद्भुत रणनीतियों का बखान करते हुए सरकार कहती है कि वह बीमार और बन्द उद्योगों का पुनर्वास करेगी। पुनर्वास को आप स्वर्गवास भी पढ़ सकते हैं। अब तक ऐसे उद्योगों के कैसे पुनर्वास हुए हैं, हम सभी जानते हैं। या तो उन्हें औने-पौने दामों पर निजी हाथों में बेच दिया जाता है, या फिर ऊपर बतायी गयी नायाब अवधारणा के तहत 'पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप' के नाम पर किसी कम्पनी को बेंच दिया जाता है। छत्तीसगढ़ में इससे कुछ अलग करने का इरादा सरकार का हो, ऐसा मानने का एक भी कारण जनता के पास नहीं है।

'रणनीति' शीर्षक के अन्त में सरकार क्या कहती है, ज़रा ग़ौर करें –

"राज्य में उद्योगों के लिए आरक्षित भूखण्ड एवं नये औद्योगिक क्षेत्रों की स्थापना के लिए **विशाल पैमाने पर भू-अधिग्रहण को सुगम बनाने हेतु ज़िला एवं राज्य स्तर पर उद्योग विभाग के कार्यालयों को सशक्त बनाना।"** (ज़ोर हमारा)

हम पहले ही बता आये हैं कि ऐसे सुगमीकरण का क्या अर्थ है। इसका अर्थ होगा जनता से जबरन ज़मीन हथियाकर मुआवज़े के नाम पर उन्हें मामूली रक़म थमाकर (ज़्यादातर मामलों में सिर्फ़ काग़ज़ पर) घर बिठा देना और चूँ-चपड़ करने पर सबक़ सिखाना। भू-अधिग्रहण का मसला इस समय छत्तीसगढ़ समेत तमाम उन राज्यों में सबसे विवादास्पद मुद्दा बना हुआ है जहाँ वामपन्थी दुस्साहसवाद का प्रभाव है। आदिवासी जनता को जबरन उनके जीविकोपार्जन के अन्तिम साधनों से भी महरूम कर देने की सरकारी कोशिशों के ख़िलाफ़ आदिवासी जनता बग़ावत करने को मजबूर है और इन्हीं परिस्थितियों में वामपन्थी दुस्साहसवाद की सोच के जड़ जमाने के कारण निहित हैं। इन्हें सरकार लाख चाहकर भी सैन्य तरीक़ों से ख़त्म नहीं कर सकती। जनता अपना प्रतिरोध छोड़ ही नहीं सकती क्योंकि यह उसके लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न है। बेशक, इस प्रतिरोध युद्ध में उसे विजय हासिल न हो, लेकिन जब करोड़ों की आबादी को उनके जीवन के आख़िरी साधनों से विस्थापित कर दिया जायेगा, तो उनके सामने लड़ते रहने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचेगा। उन्हें नेतृत्व देने के लिए वहाँ कोई भी ताक़त मौजूद होती, तो वे उसके साथ खड़े होकर लड़ते।

लेकिन आख़िरी बिन्दु में छत्तीसगढ़ सरकार ने स्पष्ट कर दिया है कि भू-अधिग्रहण की यह प्रक्रिया बदस्तूर जारी रहेगी, बल्कि सरकार इसे और अधिक "सुगम" बनायेगी।

इस शीर्षक के बाद दस्तावेज़ **कार्यनीति**, यानी एक्शन प्लान, को स्पष्ट करता है। सबसे पहले बुनियादी अधोसंरचना के विकास के लिए कार्यनीति प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए सरकार ने लगातार पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप (पीपीपी) का गुणगान किया है। हमें बताया जाता है कि पीपीपी के तहत एक कॉमन रेल कॉरीडोर का निर्माण किया जायेगा। इसका मक़सद होगा राज्य के औद्योगिक क्षेत्रों को खनन-उत्खनन के क्षेत्रों से जोड़ना। पीपीपी के नाम पर इसके इस्तेमाल का ख़र्च बहुत मामूली होगा। जैसाकि हमने पहले ही बताया है कि इस अवधारणा का अर्थ होता है पब्लिक के लिए लागत उठाना, और प्राइवेट के लिए मुनाफ़ा कमाना। इस कॉरीडोर के निर्माण के बाद औद्योगिक क्षेत्र में परियोजनाएँ लगाने वाले पूँजीपतियों की लागत में भारी कमी आ जायेगी। यानी, मुनाफ़े में कई गुना की वृद्धि सुनिश्चित! कॉमन रेल कॉरीडोर के साथ ही पीपीपी के ही तहत वृहद औद्योगिक परियोजनाओं (यानी कई हज़ार करोड़ की लागत वाली बड़ी कम्पनियों के उपक्रम के क्षेत्रों) में बड़े पैमाने पर सड़कों और राष्ट्रीय राजमार्ग से जोड़ने वाले पहुँच सड़क मार्गों का निर्माण किया जायेगा। इसका अर्थ भी लागत में भारी कमी है, और वह भी जनता के ख़र्चे पर। यह भार स्थानान्तरित करने जैसा है। आगे सुनिये पीपीपी का कमाल!

पीपीपी के ही तहत तकनीकी प्रशिक्षण संस्थान बनाये जायेंगे। इसका कारण यह है कि विशालकाय औद्योगिक परियोजनाओं के लगने के बाद पूँजीपतियों को थोड़ी कुशल श्रमशक्ति की ज़रूरत भी पड़ेगी। और इसके लिए तकनीकी प्रशिक्षण संस्थानों को खड़ा किया जायेगा। कहने की ज़रूरत नहीं है कि ये संस्थान स्वयं मुनाफ़ा कमाने के उपक्रम होंगे। इसीलिए तो इनका भी "पीपीपी-करण" कर दिया जायेगा। लागत उठायेगी पब्लिक, मुनाफ़ा कमायेगा प्राइवेट!

बुनियादी अधोसंरचना निर्माण के लिए कार्यनीति के बयान के बाद दस्तावेज़ औद्योगिक अधोसंरचना निर्माण की कार्यनीति पर आ जाता है। इसमें सबसे पहले एक रस्मी वाक्य जोड़ा गया है कि सन्तुलित औद्योगिक विकास के लिए लघु और सूक्ष्म उद्योगों के लिए भूमि आबण्टित की जायेगी। लेकिन इसके बाद सरकार अपने असली एजेण्डा पर आ जाती है। निजी क्षेत्र को राज्य में औद्योगिक क्षेत्र निर्माण के लिए कम-से-कम 75 एकड़ की भूमि आबण्टित की जायेगी। इन क्षेत्रों में सरकार ने अधिकतम सम्भव छूटें और रियायतें देने का वायदा किया है। इसका अर्थ है कि ज़मीन, बिजली, पानी, क़र्ज़, श्रमशक्ति को कम-से-कम लागत में उपलब्ध कराने का वायदा। इन निजी औद्योगिक क्षेत्रों को मुनाफ़ा कमाने के लिए हर प्रकार की छूट दी जायेगी। भू-अधिग्रहण और भू-आबण्टन की प्रक्रिया को बिल्कुल सुगम और बाधारहित बनाने का सरकार ने एलान किया है। यानी कि चुटकियों में जनता के हाथ से ज़मीन छीनी जायेगी और चुटकियों में उसे कारपोरेट घरानों और इजारेदार पूँजीपतियों के हवाले कर दिया जायेगा। नाम के लिए सरकार ने कहा है कि अगर ज़मीन देने वाले परिवारों में से कोई स्वयं उद्योग लगाना चाहता है तो उसे प्राथमिकता दी जायेगी। लेकिन हम सभी जानते हैं कि वृहद औद्योगिक विकास वाले क्षेत्रों में जिस लागत से किसी भी औद्योगिक उपक्रम को स्थापित किया जा सकता है उसका ख़र्च उठा पाना किसी मध्यमवर्गीय परिवार के भी बूते की बात नहीं है, ग़रीबों को तो छोड़ ही दिया जाये! इसलिए यह बात जोड़ना एक मज़ाक़ जैसा ही है। इसी मज़ाक़ के बाद एक मज़ाक़ और भी किया गया है। भू-अधिग्रहण पर ज़मीन के मालिक को "समुचित मुआवज़ा" दिया जायेगा! अब यह समुचित मुआवज़ा कितना होगा और कौन इसे तय करेगा, इसके बारे में कुछ भी नहीं लिखा गया है। औद्योगिक उपयोग के लिए ज़मीन की क्रय-विक्रय दर के अनुसार भुगतान किया जायेगा या किसी और दर से, यह भी निर्दिष्ट नहीं है। इसे तय करने की शक्ति किसके पास होगी, यह भी गोपनीय रखा गया है। ऐसे में समझा जा सकता है कि यह "समुचित मुआवज़ा" कितना समुचित होगा!

दस्तावेज़ आगे कहता है कि उद्योग-विशिष्ट औद्योगिक पार्क बनाये जायेंगे। यानी कि ऐसे विशेष आर्थिक क्षेत्र जिसमें किसी एक श्रेणी के ही उद्योग होंगे। इसके तहत, जेम्स एण्ड ज्यूलरी, फूड प्रोसेसिंग पार्क, हर्बल एण्ड मेडिसिनल पार्क, मेटल पार्क, ऐपेरेल पार्क, इंजीनियरिंग पार्क, रेलवे सहायक उद्योग, उद्योग कॉम्प्लेक्स, एल्यूमीनियम पार्क, प्लास्टिक पार्क, ग्रामोद्योग पार्क एवं फ़ार्मास्यूटिकल पार्क बनाये जायेंगे। ज़ाहिर है, उद्योग विशिष्ट आर्थिक क्षेत्रों को भी सरकार ढेर सारे तोहफ़े दे रही है। ऐसे पार्कों को बनाने से इसमें निवेश करने वाले पूँजीपतियों को लागत घटाने में और अधिक सहायता मिलेगी। इसका कारण यह है कि एक ही पेशे पर आधारित विशेष आर्थिक क्षेत्रों में कुशल श्रमशक्ति, कच्चे माल, भण्डारण से लेकर लॉजिस्टिक्स तक प्राप्त करना कहीं अधिक सुगम हो जायेगा। और श्रमशक्ति की उपलब्धता को कम-से-कम दरों पर सुनिश्चित करने का इन्तज़ाम तो छत्तीसगढ़ सरकार पहले से ही कर रही है – हर प्रकार के श्रम क़ानूनों को लागू करने के बन्धन से कम्पनियों को मुक्ति देकर। इस तरह के नये औद्योगिक क्षेत्रों के लिए उच्च भारवहन क्षमता की सड़कें व अन्य कई सुविधाओं का भी निर्माण किया जायेगा। अब यह एक विडम्बना ही है कि आज तक छत्तीसगढ़ के पिछड़े क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की ज़रूरत के लिए वहाँ कभी भी अवसंरचनात्मक निर्माण, सामाजिक आवश्यकताओं के लिए स्कूलों, अस्पतालों आदि के निर्माण और विद्युत और सड़क, पीने योग्य पानी आदि की पहुँच का इन्तज़ाम नहीं किया गया। लेकिन जैसे ही यह क्षेत्र एक पसन्दीदा निवेश का स्थान बना, वैसे ही सरकार को विकास की याद आ रही है। कारण साफ़ है। एक पूँजीवादी व्यवस्था में विकास हर-हमेशा पूँजी और पूँजीपतियों का विकास होता है।

अन्त में, पर्यावरण संरक्षण पर एक रूटीनी बिन्दु जोड़ने के बाद दस्तावेज़ प्रशासकीय व क़ानूनी सुधार के लिए चुनी गयी कार्यनीति पर आ जाता है। यह पूरे दस्तावेज़ के सबसे महत्त्वपूर्ण उपशीर्षकों में से एक है। केवल पाँच बिन्दुओं में सरकार ने पूँजीपतियों की हितपूर्ति में उनकी मैनेजिंग कमेटी के तौर पर अपने कार्यभारों को स्पष्ट कर दिया है। पहले बिन्दु में सरकार क्या कहती है, ज़रा सुनिये –

"मेगा औद्योगिक परियोजनाओं के "क्लियरेंस" से सम्बन्धित प्रकरणों के त्वरित निराकरण हेतु राज्य निवेश प्रोत्साहन बोर्ड में उद्योगों/निवेशकों द्वारा प्रस्तुत एकीकृत आवेदन पत्र पर विभिन्न विभागों द्वारा की गयी कार्यवाही की सतत समीक्षा उच्च स्तर पर की जायेगी।"

इस स्पष्ट कथन के बारे में वैसे तो किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है, लेकिन फिर भी। सरकार ने अद्भुत स्पष्टवादिता के साथ कहा है कि मेगा परियोजनाओं (100 से 1000 करोड़ रुपये के स्थायी निवेश वाली परियोजनाओं) के मामले में जिन क्लियरेंस प्रक्रियाओं से कम्पनियों और कारपोरेट घरानों को गुज़रना पड़ता है, उसे बिल्कुल सीधा और सरल बना दिया जायेगा और इसमें निहित हर प्रकार की लालफ़ीताशाही को समाप्त किया जायेगा। इसके लिए एक उच्च स्तरीय बोर्ड बनाया गया है, जिसका नाम है राज्य निवेश प्रोत्साहन बोर्ड। इस बोर्ड में किसी भी विभाग में क्लियरेंस की प्रक्रिया के फँसने या विलम्बित होने की समीक्षा उच्च स्तर पर की जायेगी।

अब पूँजीपतियों के पक्ष में की गयी इस कार्रवाई की तुलना मज़दूरों के साथ होने वाले अन्यायों की सुनवाई के लिए स्थापित सरकारी प्रक्रिया से कीजिये। अगर किसी मज़दूर का वेतन मारा जाता है, उसे अन्यायपूर्ण ढंग से काम से निकाला जाता है, न्यूनतम मज़दूरी का भुगतान नहीं किया जाता, ई.एस.आई./पी.एफ़ की व्यवस्था नहीं की जाती, और वह इसके विरुद्ध कार्रवाई का फ़ैसला लेता है, तो उसके पास क्या रास्ता है? उसके पास यह रास्ता है कि वह भ्रष्ट और पूँजीपतियों के हाथों बिके हुए और उनकी गोद में बैठे श्रमायुक्त या उप-श्रमायुक्त कार्यालय या लेबर कोर्ट के चक्कर काटता रहे। और इसके चक्कर काटने में ही उसकी इतनी रक़म ख़र्च हो जाये जितनी रक़म पर दावे के लिए वह लड़ रहा है! हर मज़दूर जानता है कि इस चक्कर में फँसने से बेहतर है कि ग़ुस्से को पीकर 'संतोषं परं सुखं' का जाप किया जाये और अपने साथ हुए अन्याय को भूल जाया जाये। लेकिन पूँजीपतियों का हित न मारा जाये और उनके उद्योगों को हर सुविधा और छूट/रियायत के साथ लगाने का काम त्वरित गति से, बिना लालफ़ीताशाही की बाधा के हो, इसके लिए अलग बोर्ड और विभाग तक बनाने में सरकार देर नहीं करती! कारण समझा जा सकता है! पूँजीपतियों के मुनीमों और मुंशियों से और क्या उम्मीद की जाये?

आगे सुनिये –

"राज्य निवेश प्रोत्साहन बोर्ड "सिंगल विण्डो प्रणाली" के सचिवालय के रूप में कार्य करेगा। छत्तीसगढ़ औद्योगिक निवेश प्रोत्साहन अधिनियम-2002 के अन्तर्गत बनाये गये छत्तीसगढ़ औद्योगिक निवेश प्रोत्साहन नियम-2004 के अधीन ज़िला स्तर पर गठित ज़िला निवेश प्रोत्साहन समितियों तथा राज्य स्तर पर गठित राज्य निवेश प्रोत्साहन बोर्ड की कार्य-प्रणाली को अधिक प्रभावी बनाने के लिए निवेश प्रस्तावों पर सम्बन्धित विभाग द्वारा निर्धारित कालावधि के भीतर आवश्यक "क्लीयरेंस" उपलब्ध कराने के लिए उच्च स्तरीय समीक्षा बैठक की पद्धति अपनायी जायेगी।"

मुनाफ़े के रास्ते से हर तरह के रोड़े हटाने के लिए छत्तीसगढ़ की रमण सिंह सरकार ने शायद सबसे व्यवस्थित ढंग से काम किया है। क़ानून और नियम बनाकर कम्पनियों के रास्ते से हर प्रकार के अवरोधों को हटाने का प्रयास किया गया है। जैसाकि ऊपर उद्धृत अंश से स्पष्ट है, सरकार ने ऐसे विशेष मण्डल, समितियाँ और क़ानूनी ढाँचे की रचना की है जिससे औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने की पूरी प्रक्रिया को पूँजीपतियों के लिए बेहद सुगम बनाया जा सके। ज्ञात हो कि किसी भी औद्योगिक इकाई की स्थापना पर कम्पनियों को तमाम क़िस्म के क्लीयरेंस लेने होते हैं। मिसाल के तौर पर, पर्यावरणीय मूल्यांकन रिपोर्ट देकर बताना होता है कि इस इकाई से ध्वनि, जल, वायु और जैव विविधता पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ेगा। साथ ही, उन्हें यह भी बताना पड़ता है कि आस-पास के सामाजिक-आर्थिक माहौल के लिए भी इस औद्योगिक इकाई की स्थापना लाभदायक होगी। इस पूरी प्रक्रिया के लिए कम्पनियों को परामर्शदाताओं और यह काम करने में माहिर एजेंसियों को भाड़े पर रखना पड़ता है; इसके बाद, तमाम सरकारी विभागों के अफ़सरों आदि को जमकर खिलाना-पिलाना पड़ता है, ताकि पूरी प्रक्रिया छोटी और आसान हो जाये। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश राज्यों में कम-से-कम नाममात्र के लिए ही सही, इस प्रक्रिया को अपनाया जाता है। लेकिन छत्तीसगढ़ सरकार ने इस रस्म-अदायगी के बोझ से भी छत्तीसगढ़ में पूँजीपतियों को मुक्त कर दिया है। अब सरकारी अधिकारी स्वयं पूँजीपतियों के कारकून की तरह काम करते हुए "सिंगल विण्डो प्रणाली" के तहत सारे नियमों-क़ानूनों को ताक पर रखकर त्वरित प्रक्रिया से हर प्रकार के क्लियरेंस के काम को अंजाम देंगे।

इस उपशीर्षक के तीसरे बिन्दु में सरकार पूँजीपतियों के प्रति अपने तीसरे कर्तव्य की बात करते हुए बताती है –

"मेगा औद्योगिक परियोजनाओं के भू-अर्जन/भू-आबण्टन, जल आबण्टन एवं विद्युत प्रदाय सम्बन्धी प्रकरणों के समय-सीमा में निराकरण हेतु नोडल अधिकारी नामांकित किये जायेंगे जो प्रकरणों के त्वरित निराकरण हेतु कार्य करेंगे।"

रमण सिंह सरकार ने ज़मीन हड़पने, लगभग

(पेज 11 पर जारी)

पूँजीवादी लूट व शोषण और मेहनतकश ग़रीबों के विस्थापन के लिए रास्ता साफ़ करने का फ़रमान

(पेज 10 से आगे)

मुफ़्त में पानी और बेहद रियायती दरों पर बिजली देने और इसके सम्बन्ध में होने वाले किसी भी विवाद या मुद्दे के निपटारे के लिए एक अलग नोडल अधिकारी की नियुक्ति की घोषणा कर पूँजीपतियों को एक और बहुत बड़ी राहत देने की घोषणा की है। यह नोडल अधिकारी भी निर्धारित समय-सीमा के भीतर इन प्रकरणों का निपटारा करेगा। सरकार अपनी कार्यक्षमता, कुशलता और वफ़ादारी को कम्पनियों और कारपोरेट घरानों की निगाह में साबित करने के लिए काफ़ी तत्पर दिखायी देती है।

चौथे बिन्दु में सरकार यह भरोसा दिलाती है कि ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों की स्थापना के बाद उद्योगों की आवश्यकताओं के त्वरित निराकरण के लिए नये सरकारी व्यापार व उद्योग केन्द्रों आदि की स्थापना की जायेगी। यानी कि न सिर्फ़ उद्योगों को लगाने के दौरान, बल्कि उनके प्रचालन के शुरू होने के बाद भी इस बात का पूरा खयाल रखा जायेगा कि उन्हें किसी किस्म की असुविधा न हो।

आख़िरी बिन्दु मज़दूरों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है और शायद इसीलिए इसे सरकार ने संक्षिप्ततम रखने का प्रयास किया है। देखिये सरकार क्या कहती है –

"श्रम क़ानूनों के *सरलीकरण* और उन्हें *युक्तियुक्त* बनाने हेतु पहल की जायेगी।" (ज़ोर हमारा)

वाह! क्या कहने हैं! श्रम क़ानूनों को और अधिक *सरलीकृत* और *युक्तियुक्त* बना दिया जायेगा। तो उसमें बचेगा क्या? विशेष आर्थिक क्षेत्र में वैसे भी अधिकांश श्रम क़ानून नहीं लागू होते हैं और मालिकों को इसका क़ानूनी अधिकार भी सरकार ने सौंप दिया है। अब इन विशेष आर्थिक क्षेत्रों में और भी अधिक आसानी से मज़दूरों का हक़ मारा जा सके, इसके लिए क़ानूनों को और अधिक पंगु और प्रभावहीन बना देने का आश्वासन सरकार ने पूँजीपतियों को दिया है। सरकार यह नहीं बताती है कि किसके पक्ष में क़ानूनों को युक्तियुक्त बनाया जायेगा। यह "युक्तियुक्त" काफ़ी युक्तिपूर्ण शब्द है। मेगा औद्योगिक परियोजनाओं (100 से 1000 करोड़ रुपये के स्थायी पूँजी निवेश वाली औद्योगिक परियोजनाएँ) निश्चित रूप से बड़े औद्योगिक घरानों द्वारा लगायी जायेंगी। उन्हें भी हर प्रकार के बन्धन से मुक्त कर दिया जायेगा। यह है श्रम क़ानूनों को *युक्तियुक्त* बनाने का अर्थ। यानी, मज़दूरों को नाममात्र के लिए प्राप्त क़ानूनी सुरक्षा से भी पूर्ण मुक्ति! वे अब क़ानूनी तौर पर कोई दावा भी नहीं कर सकेंगे। उन्हें शाब्दिक अर्थों में उज़रती गुलाम बना दिया जायेगा। सरकार के इरादे और पक्षधरता साफ़ हैं।

इसके बाद दस्तावेज़ नये शीर्षक **"उद्योगों के दायित्व"** पर आ जाता है। आप इसे पढ़ते ही समझ जाते हैं कि दस्तावेज़ का मसविदा तैयार करने वाले को सबसे अधिक अक्ल इसी हिस्से को तैयार करने में लगानी पड़ी होगी। ऐसा लगता है कि सरकार को समझ में ही नहीं आ रहा था कि इस शीर्षक के तहत लिखा क्या जाये? उद्योगों के दायित्व!? काफ़ी ज़ोर लगाकर छह बिन्दु तैयार किये गये हैं जिनमें कम्पनियों को छत्तीसगढ़ राज्य के निवासियों को रोज़गार का बड़ा हिस्सा देने के लिए कहा गया है। इसके बाद, कही गयी बातें अनिवार्यता की श्रेणी में नहीं बल्कि सुझाव की श्रेणी में आती हैं। मिसाल के तौर पर, कम्पनियों को राज्य के तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी संस्थानों में कैम्पस सेलेक्शन के लिए *प्रेरित किया जायेगा।* परियोजनाओं से प्रभावित ज़िलों में सामुदायिक विकास के लिए "मुख्यमन्त्री सामुदायिक विकास कोष" बनाया जायेगा (यह भला उद्योगों का दायित्व कैसे है? इसमें तो सरकार अपना ही एक दायित्व बता रही है! ख़ैर!) इसी तरह, उद्योगपतियों को पर्यावरण का अधिक से अधिक ख़याल रखते हुए रेन वाटर हार्वेस्टिंग आदि करने की सलाह दी गयी है। इसके अलावा, उन्हें एनर्जी ऑडिट करने के लिए भी कहा गया है। साफ़ है, कि यह उपशीर्षक इस पूरे दस्तावेज़ में नहीं भी होता तो कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

इसके बाद, सरकार **"निर्यात संवर्धन एवं एफ़.डी.आई. निवेश", "प्रक्रिया सरलीकरण एवं सहायक उद्योगों का विकास", "उद्यमिता एवं मानव संसाधन विकास"** के शीर्षकों के तहत पूँजीपतियों के प्रति पहले जतायी गयी प्रतिबद्धताओं को ही दोहराया गया है। मिसाल के तौर पर, सरकार कहती है कि 100 प्रतिशत निर्यात करने वाले उद्योगों व एफ़.डी.आई. निवेशकों और आप्रवासी भारतीय निवेशकों को राज्य में उद्योग स्थापित करने पर अतिरिक्त छूटें/रियायतें दी जायेंगी। प्रक्रिया सरलीकरण के तहत हमें बताया जाता है कि ज़मीन हड़पने के रास्ते में जो क़ानून बाधा बनते हैं, उन्हें भी *युक्तियुक्त* बना दिया जायेगा। यानी, उनका क्रियाकर्म कर दिया जायेगा। ठेकेदारों के लिए भी काफ़ी प्रक्रिया सरलीकरण किया जा रहा है। उनके लिए ई-टेण्डरिंग की व्यवस्था की जायेगी और इसके लिए उन्हें समुचित प्रशिक्षण दिया जायेगा। मानव संसाधन विकास से सरकार का क्या अर्थ है, इसे भी स्पष्ट किया गया है। राज्य के तमाम कुशल/अर्द्धकुशल/अकुशल श्रमिकों को तो विशेष आर्थिक क्षेत्र और मेगा व अल्ट्रा मेगा औद्योगिक परियोजनाओं में कोयले के समान झोंक दिया जायेगा; लेकिन इसके बाद भी जो भारी मज़दूर और युवा आबादी बेरोज़गार बचेगी, उसे सरकार ने स्वरोज़गार का उपदेश दिया है। इसके लिए ऋण संस्थाएँ स्थापित की जायेंगी। बताने की ज़रूरत नहीं है कि इन सूक्ष्म ऋण योजनाओं से सरकार कितनी ज़बरदस्त कमाई करती है। स्वरोज़गार के भ्रम में युवाओं और मज़दूरों की भारी आबादी अर्द्धबेरोज़गार बनी रहती है और ऋण का ब्याज़ भरने और जीविकोपार्जन की न्यूनतम बुनियादी शर्तों को मुश्किल से पूरा कर पाने के दबाव में ही आर्थिक और भौतिक तौर पर ख़र्च हो जाती है। आगे के शीर्षक में यह भी बताया गया है कि युवाओं के बीच व्याप्त बेरोज़गारी को दूर करने के लिए राज्य में "मुख्यमन्त्री स्वरोज़गार योजना" शुरू की जायेगी। इस योजना का यही लक्ष्य है। बड़े पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन की मशीनरी जिस आबादी को खपाने में अक्षम होगी, उसे इस योजना के तहत एक लॉलीपॉप थमा दिया जायेगा।

"औद्योगिक निवेश प्रोत्साहन" शीर्षक के तहत सरकार ने पूँजीपतियों की सेवा में कुछ महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ की हैं। सरकार उद्योगों को उनकी पात्रता के अनुसार ब्याज़ अनुदान, स्थायी पूँजी निवेश अनुदान, विद्युत शुल्क से छूट, स्टाम्प शुल्क से छूट, औद्योगिक क्षेत्रों में भू-आबण्टन पर प्रीमियम में छूट/रियायत, परियोजना प्रतिवेदन अनुदान, भूमि व्यपवर्तन शुल्क से छूट, गुणवत्ता प्रमाणीकरण अनुदान, तकनीकी पेटेण्ट अनुदान व मण्डी शुल्क प्रतिपूर्ति अनुदान जैसी महत्त्वपूर्ण छूटें/रियायतें दी जायेंगी। 100 प्रतिशत एफ़.डी.आई. निवेशकों को अन्य उद्यमियों से 5 प्रतिशत अधिक अनुदान दिया जायेगा। महिला उद्यमियों, राज्य के सेना से सेवानिवृत्त उद्यमियों, व नक्सलवाद से प्रभावित परिवारों को सामान्य से 10 प्रतिशत अधिक अनुदान प्राप्त होगा। परिशिष्ट 1-"परिभाषाएँ" खण्ड में नक्सलवाद से प्रभावित व्यक्ति/परिवार को उन व्यक्तियों/लोगों के रूप में परिभाषित किया गया है जो राज्य में नक्सलवाद के उन्मूलन के दौरान शहीद हुए हैं। स्पष्ट है, सरकार सलवा जुडुम, और इस जैसी अपने अनौपचारिक और ग़ैर-क़ानूनी सशस्त्र दस्तों के मारे गये लोगों को यह छूट दे रही है, जो आदिवासियों पर बर्बर से बर्बर दमन के कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं। ज़ाहिर है कि नक्सलवाद/माओवाद के उन्मूलन के नाम पर पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों और सलवा जुडुम की सरकार समर्थित गुण्डा-वाहिनियों ने जिन निर्दोष आदिवासियों को मारा या उजाड़ा है, उन्हें या उनके परिवार को सरकार कोई राहत नहीं देने जा रही है, क्योंकि वह उन्हें दुर्दान्त आतंकवादी मानती है।

अब ज़रा देखिये कि किन-किन उद्योगों को कितनी छूट/रियायत दी गयी है।

सूक्ष्म एवं लघु उद्योगों को आर्थिक विकास की दृष्टि से पिछड़े और विकासशील क्षेत्रों के अनुरूप क़र्ज़ के ब्याज़ पर 40 प्रतिशत से 90 प्रतिशत छूट दी जायेगी। स्थायी पूँजी निवेश के मामले में इन उद्योगों को इस निवेश पर 30 से 50 प्रतिशत तक की छूट दी जायेगी। मँझोले उद्योगों को भी क़र्ज़ के ब्याज़ पर लगभग इतनी ही छूट दी जायेगी। स्थायी पूँजी निवेश पर मँझोले उद्योगों को 35 से 45 प्रतिशत तक की छूट दी जायेगी। वृहद उद्योगों को भी स्थायी पूँजी निवेश पर 35 से 45 प्रतिशत तक की छूट दी जायेगी। मेगा/अल्ट्रा मेगा परियोजनाओं को स्थायी पूँजी निवेश पर 35 प्रतिशत तक की छूट दी जायेगी। कुल मिलाकर, इन छूटों से सरकारी ख़ज़ाने का हज़ारों करोड़ रुपये का घाटा होगा। ज़ाहिर है कि इस घाटे को मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी को और ज़्यादा निचोड़कर कम किया जायेगा। नये औद्योगिक क्षेत्रों में हर आकार की औद्योगिक परियोजनाओं को विद्युत शुल्क से 5 से 12 वर्ष तक की छूट होगी। यानी कि राज्य के बिजली उत्पादन का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा पूँजीपतियों को मुफ़्त में सौंप दिया जायेगा। पूँजीपतियों को स्टाम्प शुल्क से भारी छूट के रूप में भी सार्वजनिक मद में राज्य सरकार भारी नुक़सान उठाने को तैयार है। ज़ाहिर है, इसकी भरपाई भी मेहनतकश जनता की जेब काटकर की जायेगी।

छूटों/रियायतों की फ़ेहरिस्त अभी ख़त्म नहीं हुई है। भू-आबण्टन में उद्योगपतियों से लिये जाने वाले भू-प्रीमियम में भी 50 से 100 प्रतिशत तक की छूट दी जायेगी। इसके अतिरिक्त, परियोजना प्रतिवेदन पर होने वाले पूँजीपतियों के ख़र्च को भी सरकार अनुदान देकर कम कर देगी या माफ़ कर देगी। गुणवत्ता प्रमाणीकरण पर होने वाले ख़र्च को भी सरकार अनुदान के ज़रिये भर देगी और भू-आबण्टन पर लगने वाले सेवा शुल्क पर भी 5 से 20 प्रतिशत तक की छूट दी जायेगी। पूँजीपति उद्योग लगाने के बाद किसी वस्तु के उत्पादन के लिए जो पेटेण्ट ख़रीद करेंगे, उसका भी 50 प्रतिशत सरकार भर देगी। जिन मामलों में कृषि उपज मण्डी से कच्चा माल ख़रीदा जायेगा, उसमें भी सरकार 50 प्रतिशत तक की राशि को अपने ख़ज़ाने से भरेगी, जो वास्तव में सार्वजनिक मद है। निजी औद्योगिक क्षेत्रों और पार्कों की स्थापना के लिए भी सरकार अधोसंरचना लागत पर 25 प्रतिशत तक की छूट, डायवर्सन शुल्क से पूर्ण छूट और स्टाम्प शुल्क से पूर्ण छूट देगी।

कुल मिलाकर देखा जाये तो छत्तीसगढ़ सरकार विभिन्न छूटों और रियायतों के नाम पर कारपोरेट जगत को हज़ारों करोड़ रुपये का तोहफ़ा दे रही है। ये हज़ारों करोड़ रुपये जो सरकारी ख़ज़ाने में जाते, अब वे पूँजीपतियों की जेब में जायेंगे। अगर वे सरकारी खज़ाने में भी चले जाते तो निश्चित रूप से उनका बड़ा हिस्सा भ्रष्टाचारी नेताओं और विराट और भ्रष्ट नौकरशाही की जेब में चला जाता। लेकिन इतने भारी राजस्व घाटे के कारण इन पाँच वर्षों के दौरान अप्रत्यक्ष करों के रूप में जनता की जेब पर भारी बोझ डाला जायेगा। पहले से ही दरिद्रता, बेरोज़गारी और विस्थापन की मार झेल रही छत्तीसगढ़ की आम मेहनतकश जनता, मज़दूर और आदिवासी इस बोझ तले दबकर अपनी जीविका के अन्तिम स्त्रोतों के लिए भी तरस जायेंगे। मज़दूरों की भारी आबादी को पहले से भी अधिक समय तक पुरानी या कई मामलों में उससे भी कम मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। नये आर्थिक क्षेत्रों और औद्योगिक पार्कों में शुरू से ही यूनियन बनाना असम्भवप्राय कार्य होगा। कई मामलों में इसे क़ानूनन निषिद्ध करने का प्रयास किया जायेगा या फिर उसकी राह में इतने रोड़े खड़े कर दिये जायेंगे, कि वास्तव में वह निषिद्ध ही हो जायेगा। संक्षेप में कहें तो मज़दूरों को संगठन के अधिकार से वंचित कर और अधिक सघन और व्यापक शोषण और उत्पीड़न के चक्कों के बीच पिसने के लिए फेंक दिया जायेगा।

यह औद्योगिक नीति पूँजीपतियों की प्रबन्धन समिति की भूमिका निभाने वाली एक पूँजीवादी सरकार की औद्योगिक नीति का क्लासिक उदाहरण है। राज्य के विकास का अर्थ राज्य के पूँजीपतियों या राज्य के भीतर देशी-विदेशी पूँजीपतियों के मुनाफ़े की तरक़्क़ी और बढ़ोत्तरी है। यह विकास का वही मॉडल है जो नयी आर्थिक नीतियों के 1991 में देश-स्तर पर खुले तौर पर लागू होने के बाद सभी चुनावी पूँजीवादी पार्टियों या उनके गठबन्धनों की सरकार ने अपनाया है। यह मॉडल है नवउदारवादी और भूमण्डलीकरण की नीतियों का मॉडल, जिसे विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का तिमुँहा राक्षस हमेशा से लागू करने की वकालत करता आ रहा है। यह मॉडल है देश की जनता की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लूट का मॉडल। भारत का पूँजीपति वर्ग भी इसे देश स्तर पर और राज्यों के स्तर पर लागू कर रहा है। इस भूमण्डलीकृत लूट के कनिष्ठ साझीदार के तौर पर भारतीय पूँजीपति वर्ग श्रम की लूट के रास्ते के हर अवरोध को हटाने का काम कर रहा है। राज्य खुलकर जनता के कल्याणकारी के रूप में नहीं बल्कि पूँजीवादी हितों के रक्षक और विस्तारक के रूप में काम कर रहा है।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में, राज्य ने एक और भूमिका अपना ली है। श्रम और पूँजी के बीच पैदा होने वाले हर विवाद में उसने पूँजी को हर प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया है। पहले मज़दूरों के कल्याण, स्वास्थ्य, आवास और सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा जैसे कई काम मालिक के ज़िम्मे हुआ करते थे और क़ानूनन उसे इन ज़िम्मेदारियों को निभाना पड़ता था। लेकिन नवउदारवादी नीतियों के खुले तौर पर लागू होने के बाद एक पूँजीवादी राज्य के अन्दर एक विशेष आभिलाक्षणिकता पैदा हुई है। मज़दूरों के प्रति कई ज़िम्मेदारियों को तो अब समाप्त कर दिया गया है। जो ज़िम्मेदारियाँ बची भी हैं, उनसे भी मालिक वर्ग को मुक्त कर दिया गया है। इन ज़िम्मेदारियों को भी राज्य ने ले लिया है। मनरेगा, भावी सामाजिक सुरक्षा क़ानून और भावी खाद्य सुरक्षा क़ानून, आम आदमी बीमा योजना आदि जैसी तमाम योजनाएँ इसी बात की ओर इशारा करती हैं। ऐसे में बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा राज्य का गुणगान करता है और कहता है कि "देखो! देखो! राज्य अभी भी कल्याणकारी है!" लेकिन यह महज़ आँखों का धोखा है। यह बोझे का कन्धा बदलना-भर है। राज्य ने कोई नया कल्याणकारी उत्तरदायित्व नहीं लिया है। उसने बस मालिक वर्ग को भारमुक्त कर अपने कन्धे पर तमाम उत्तरदायित्व ले लिये हैं। यह भी इसीलिए किया गया है कि मालिक वर्ग को किसी क़िस्म का सिरदर्द न मिले और वह तनावमुक्त होकर मुनाफ़ा पीट सके। हर प्रकार के श्रम-पूँजी विवाद में भी श्रम कार्यालय की भूमिका इस प्रकार बदली है कि हम कह सकते हैं कि श्रम और पूँजी के बीच राज्य एक ऐसे मध्यस्थ की भूमिका अदा कर रहा है जिसकी स्पष्ट पक्षधरता पूँजी के साथ है। मज़दूर काम की जगह से लेकर घर तक, श्रम अधिकारों की रक्षा से लेकर अपने मानवाधिकारों की रक्षा तक पूरी तरह अरक्षित हैं, जबकि मालिकों को हर प्रकार का राज्य संरक्षण प्राप्त है।

छत्तीसगढ़ की औद्योगिक नीति भूमण्डलीकरण और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के इस दौर की इन सभी चारित्रिक विशेषताओं से लैस है। पूँजीपतियों को हर प्रकार का संरक्षण, मज़दूर हर तरह से अरक्षित और बाज़ार की अन्धी शक्तियों के रहमो-करम पर। यह औद्योगिक नीति राज्य सरकार की पूँजीपतियों के साथ पक्षधरता का जीता-जागता सबूत है। इस पूरी औद्योगिक नीति में मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता के लिए अगर कुछ है तो वह सिर्फ़ लूट, बरबादी और विस्थापन है।

पंजीयन संख्या	डाक पंजीयन संख्या	प्रेषक डाकघर -	प्रेषण तिथि -
71980/99	SSP/LW-NP/399/2009-11	महानगर	माह की 13, 14, 15 तारीख

चीन में मज़दूर संघर्षों का नया उभार

मज़दूर हड़तालों के अनवरत सिलसिले से चीनी शासकों और दुनियाभर के पूँजीपतियों की नींद उड़ी

पिछले कुछ सप्ताहों के दौरान चीन में मज़दूर हड़तालों की लहर ने चीन के कम्युनिस्ट नामधारी पूँजीवादी शासकों को हिलाकर रख दिया है। चीन के मज़दूर वर्ग के संघर्ष के इस नये उभार ने दुनियाभर के पूँजीपतियों को भी चिन्ता में डाल दिया है। अब तक चीन के मज़दूरों के सस्ते श्रम को निचोड़कर भारी मुनाफ़ा पीटने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मुनाफ़ा घटने की चिन्ता से परेशान हो उठी हैं।

पिछले करीब दो महीने के दौरान ही दक्षिण चीन के तटवर्ती इलाक़ों के औद्योगिक क्षेत्रों में 1000 से ज़्यादा कारख़ानों में मज़दूर हड़ताल कर चुके हैं। सभी जगह मज़दूरों की लगभग एक-सी माँगें थीं – बेहद कम मज़दूरी में बढ़ोत्तरी, काम के घण्टे कम करना, काम की अमानवीय परिस्थितियों को बेहतर बनाना और यूनियन बनाने का अधिकार देना। वैसे तो पिछले तीन-चार वर्षों के दौरान चीन में मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त संघर्षों और हड़तालों का सिलसिला 2009 में कुछ महीनों को छोड़कर कभी थमा नहीं है, लेकिन पहले से अलग इन हड़तालों की एक ख़ास बात यह रही है कि अधिकांश जगहों पर मज़दूर किसी न किसी हद तक अपनी माँगों को पूरा कराने में कामयाब रहे हैं।

पहले जो चीनी सत्ता किसी भी विरोध और हड़ताल को कुचलने के लिए पूरी ताक़त के साथ टूट पड़ती थी, उसने इस बार न सिर्फ़ दमन कम किया बल्कि कई जगह तो मालिकान पर मज़दूरों की माँगें मानने के लिए परोक्ष दबाव भी डाला। वजह साफ़ है। चीनी शासक समझ रहे हैं कि मज़दूरों में फैलते गुस्से को अगर समय रहते सँभाला नहीं गया तो स्थिति विस्फोटक हो सकती है।

इस साल मई महीने में हड़तालों की इस लहर की शुरुआत हुई। फ़ॉक्सकॉन कम्पनी में एक साल के अन्दर दस मज़दूरों के आत्महत्या करने से मज़दूरों में गुस्सा भड़क उठा। अन्दर ही अन्दर घुटते कम्पनी के लाखों मज़दूर खुलकर कम्पनी की भयंकर शोषण और उत्पीड़नकारी नीतियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने लगे। मज़दूरों की यह नयी पीढ़ी इण्टरनेट और मोबाइल फ़ोन के इस्तेमाल से बख़ूबी वाकिफ़ है और इनके ज़रिये कम्पनी के भीतर की ख़बरें चारों ओर फैल गयीं। देशी मीडिया को भी इसकी ख़बरें देने के लिए मजबूर होना पड़ा और फिर विदेशी मीडिया में भी इसकी काफ़ी चर्चा हुई क्योंकि फ़ॉक्सकॉन दुनिया की तमाम बड़ी कम्प्यूटर और इलेक्ट्रॉनिक्स कम्पनियों के लिए उत्पाद बनाती है। फ़ॉक्सकॉन इलेक्ट्रॉनिक्स सामानों की असेम्बलिंग करने वाली दुनिया की सबसे बड़ी कम्पनी है। यह ऐप्पल कम्पनी के आईपॉड और आईपैड से लेकर सोनी और एच.पी. जैसी कम्पनियों के लिए कम्प्यूटर और दूसरे उत्पाद बनाती है। इसमें क़रीब 8 लाख मज़दूर काम करते हैं। काम की अमानवीय परिस्थितियों, बेहद कम मज़दूरी और क़दम-क़दम पर गाली-गलौच तथा निरन्तर मानसिक दबाव के कारण अपने दस साथियों की आत्महत्या का मज़दूरों द्वारा कड़ा विरोध करने और कम्पनी की बदनामी से घबराये मालिकान को मज़दूरी में 66 प्रतिशत यानी दो तिहाई बढ़ोत्तरी करने के लिए मजबूर होना पड़ा। फ़ॉक्सकॉन के मज़दूरों की कामयाबी से दूसरे कारख़ानों में ऐसी ही परिस्थितियों में घुट रहे मज़दूरों को भी आवाज़ उठाने का हौसला मिल गया।

इसके बाद पर्ल रिवर इलाक़े में स्थित जापानी कार कम्पनी होण्डा की पार्ट्स फ़ैक्टरियों में मज़दूरों ने हड़ताल की और फिर ताबड़तोड़ अनेक कारख़ानों में हड़तालें शुरू हो गयीं। हड़तालों का सिलसिला कम से कम 6 औद्योगिक शहरों में फैल गया। क़रीब 15 दिन चली होण्डा की पहली हड़ताल के बाद मज़दूर 30 से 40 प्रतिशत मज़दूरी बढ़वाने में सफल रहे। उसके बाद से चीन में होण्डा के कारख़ानों में दो और हड़तालें हो चुकी हैं। यह रिपोर्ट लिखे जाने के समय होण्डा के कई कारख़ानों में हड़ताल जारी थी। कई जगह मज़दूरों ने पुलिस के साथ उग्र झड़पें भी कीं। होण्डा के एक कारख़ाने के बाहर पुलिस और मज़दूरों के बीच हुए टकराव में कई दर्जन मज़दूर घायल हुए लेकिन फिर भी मज़दूर डटे रहे। 2000 से ज़्यादा मज़दूरों वाली एक इंजीनियरिंग फ़ैक्टरी के हड़ताली मज़दूरों को बाहर जाने से रोकने के लिए बुलाये गये पुलिस और हथियारबन्द विशेष सुरक्षा बलों के बीच हुए ज़बरदस्त टकराव में पचास से ज़्यादा मज़दूर ज़ख़्मी हो गये।

भारत के अख़बारों और टीवी चैनलों ने सोचे-समझे तरीक़े से चीन के मज़दूरों के संघर्ष की इन ख़बरों का पूरी तरह ब्लैकआउट कर रखा है, लेकिन इण्टरनेट पर उपलब्ध विदेशी अख़बार इन ख़बरों से भरे हुए हैं। उनसे पता चलता है कि यह लहर अब चीन के मज़दूर आन्दोलन में एक नये उभार का रूप लेती जा रही है।

कई सालों से लगातार बढ़ता मज़दूर असन्तोष

दरअसल, चीन के औद्योगिक इलाक़ों में मज़दूर असन्तोष पिछले कई सालों से लगातार बढ़ता रहा है और बीच-बीच में यहाँ-वहाँ हड़तालों और टकरावों के रूप में भड़क भी उठता रहा है। 2008 में टैक्सी ड्राइवरों की हड़ताल और प्रदर्शन हुए, जिनसे दस शहर प्रभावित हुए थे। गुआङदाङ प्रान्त के श्रम विभाग के अनुसार वहाँ 2008 में औद्योगिक झड़पों की संख्या में दोगुना इज़ाफ़ा हुआ। चीन में 2006 में ही लगभग 90 हज़ार बड़ी हड़तालें और शहरी तथा ग्रामीण प्रदर्शन हुए थे, इसके बाद चीन की सरकार ने ये आँकड़े प्रकाशित करना ही बन्द कर दिया। हड़तालों का सिलसिला 2009 से कुछ महीनों तक रुका रहा, लेकिन अब नये, प्रचण्ड वेग से फिर फूट पड़ा है।

आज पूरी दुनिया में बुर्जुआ मीडिया चीन की अभूतपूर्व विकास दर और "बाज़ार समाजवाद" की उपलब्धियों का ख़ूब डंका पीट रहा है, लेकिन वह इस तथ्य को यथासम्भव दृष्टि से ओझल करने की कोशिश करता है कि यह विकास-दर मज़दूरों-किसानों की भयंकर बदहाली, तबाही और भुखमरी की क़ीमत पर हासिल की जा रही है। एक ओर जहाँ चीनी समाज में अरबपतियों और करोड़पतियों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है, वहीं फ़ैक्टरियों के मज़दूर और कम्यूनों की सामूहिक खेती की व्यवस्था के टूटने से उजड़ने वाले किसान निकृष्टतम कोटि के उज़रती गुलामों की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं। भारत में प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह से लेकर भाजपा तक विकास के चीनी मॉडल की तारीफ़ के कसीदे पढ़ते नहीं थकते। मनमोहन सिंह तो अकसर दिल्ली और मुम्बई को शंघाई और बीजिंग बना देने की बात किया करते हैं। लेकिन चीन की तरक़्क़ी की चकाचौंध के पीछे की काली सच्चाई की कोई चर्चा नहीं करता। चीन की यह सारी तरक़्क़ी करोड़ों मज़दूरों की बर्बर लूट और शोषण पर टिकी हुई है। मज़दूरों का ख़ून और हड्डियाँ निचोड़कर विकास की जगमगाहट हो रही है। पचास करोड़ से ज़्यादा चीनी मज़दूर बेहद कम मज़दूरी पर 12-12 घण्टे पशुवत कमरतोड़ मेहनत करके चीन के नये पूँजीवादी शासकों के लिए मुनाफ़ा पैदा कर रहे हैं। दुनियाभर के पूँजीपतियों को सस्ते श्रम का लालच देकर चीन ने अपने यहाँ फ़ैक्टरी लगाने के लिए आमन्त्रित किया है और पिछले दो दशकों के दौरान चीन के फैलते औद्योगिक इलाक़े दुनिया की लगभग सभी बड़ी कम्पनियों के कारख़ानों से भर गये हैं।

पर्ल रिवर डेल्टा, जहाँ हाल में सबसे अधिक हड़तालें हुई हैं, ऐसा ही एक इलाक़ा है। हांगकांग, शेनझेन विशेष आर्थिक क्षेत्र और गुआंगझाऊ बन्दरगाह के बीच फैले इस इलाक़े में क़रीब 12 करोड़ मज़दूर रहते हैं। सड़कों के किनारे-किनारे फ़ैक्ट्रियों की क़तार है। सड़क के दूसरी ओर तीन से छह मंज़िला इमारतें हैं जिनके छोटे-छोटे कमरों में मज़दूर रहते हैं। इस इलाक़े में सैकड़ों किलोमीटर तक यही दृश्य दिखायी देता है। यहाँ ज़्यादातर ऐसे कारख़ाने हैं जो एक्सपोर्ट के लिए माल पैदा करते हैं या विदेशी कम्पनियों के सप्लायर हैं। ज़्यादातर मज़दूर चीन के देहातों से उजड़कर आये किसानों के बेटे-बेटियाँ हैं जो दिन-रात खटकर बस इतना कमा पाते हैं कि ख़ुद जानवरों की तरह जीते हुए कुछ पैसे बचाकर गाँव में अपने परिवार को भेज सकें।

मज़दूरों के लिए बनाये गये रैनबसेरे और अपार्टमेण्ट बेहद भद्दे और गन्दे दिखते हैं। रैनबसेरे के एक कमरे में छह-सात से लेकर 12 मज़दूर तक रहते हैं। इसकी वजह से कमरे में इतनी घिच-पिच और शोर-शराबा होता है कि तेरह-चौदह घण्टे हाड़-तोड़ श्रम के बाद मज़दूर ठीक से सो भी नहीं पाते हैं। न तो वे अपने कमरे में खाना बना सकते हैं और न ही खाना गरम कर सकते हैं। किसी बाहरी व्यक्ति को रैनबसेरों में आने की अनुमति नहीं है, चाहे वे मज़दूर के सगे-सम्बन्धी ही क्यों न हों। फ़ॉक्सकॉन में काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूर ऐसे ही रैनबसेरों में समय काटते हैं। काम के भीषण दबाव के कारण मज़दूर एक कारख़ाने में तीन-चार महीने से ज़्यादा नहीं टिकते। दूसरे, लगातार 12-12 घण्टों की शिफ़्टों में रात-दिन, हफ़्ते में सातों दिन, काम करने के चलते एक ही कमरे में रहने वाले मज़दूर भी एक-दूसरे को ठीक से जान नहीं पाते हैं। कारख़ानों में मज़दूरों के आपस में बात करने पर भी पाबन्दी होती है और बतियाते या हँसी-मज़ाक़ करते पाये जाने पर भारी जुर्माना लगाया जाता है। एक दिन छुट्टी लेने पर तीन दिन के पैसे काट लिये जाते हैं। ऐसे में मज़दूर बेहद अकेलेपन के शिकार होते हैं। ऊपर से लगातार बेहद नीरस और ऊबाऊ काम करते-करते वे गहरी मानसिक थकान और निराशा के शिकार हो जाते हैं जो अक्सर मानसिक बीमारी का रूप ले लेती है।

लगातार तेरह-चौदह घण्टे काम करने के बाद भी मज़दूरों की न्यूनतम पगार केवल 1,000 युआन तक हो सकती है, जिसमें ओवरटाइम शामिल है। ना-नुकुर किये बिना इस शोषण की चक्की में पिसने के लिए पहली भर्ती के समय मज़दूरों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, जिसे सुपरवाइज़रों की भाषा में "सैन्य प्रशिक्षण" कहा जाता है। इसका उद्देश्य साफ़-तौर पर नये "रंगरूटों" को औद्योगिक अनुशासन के लिए तैयार करना होता है। फ़ॉक्सकॉन जैसी बड़ी कम्पनियों से इतर छोटी-छोटी कम्पनियों में तो काम की स्थिति और भी भयावह है।

इन मज़दूरों में क़रीब 90 फ़ीसदी वे युवा हैं, जो पूँजी की मार से पारम्परिक खेती की तबाही और अत्याधुनिक तकनीकों, मशीनों और कीटनाशकों के प्रयोग से फ़ार्महाउस खेती की बढ़ती उत्पादकता एवं श्रम की घटती माँग के कारण ग्रामीण इलाक़ों से निकलने को मजबूर हुए हैं और शहरों का रुख़ कर चुकी 20 करोड़ से अधिक आबादी का हिस्सा हैं। ये निर्माण कार्यों, नयी निर्यातोन्मुख फ़ैक्टरियों या अन्य सबसे ख़तरनाक और गन्दे कामों में रोज़गार तलाश करते हैं जहाँ उन्हें बुनियादी अधिकार भी हासिल नहीं होते। मज़दूरों को काग़ज़ पर कुछ क़ानूनी अधिकार मिले हुए हैं। लेकिन वे किसी एक कम्पनी में लगातार दस वर्ष तक काम करने के बाद ही लागू होते हैं। उस पर भी जो मज़दूर वास्तव में बीमा, चिकित्सा, पेंशन या काम नहीं होने पर पगार के कुछ हिस्से के क़ानूनी अधिकार का दावा करते हैं, उन्हें अक्सर निकाल बाहर किया जाता है। बहुत बार, मज़दूरों को नौ साल या उससे कम अवधि में ही कम्पनी से निकाल दिया जाता है, ताकि दस वर्ष के बाद मिलने वाले क़ानूनी अधिकारों का झमेला भी नहीं रहे। कहने के लिए, सत्तारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ी ऑल चाइना फ़ेडरेशन ऑफ़ ट्रेड यूनियन्स की शाखाएँ फ़ैक्टरियों में मौजूद हैं, लेकिन इनमें मज़दूरों के बजाय मैनेजमेण्ट द्वारा चुने गये प्रतिनिधि होते हैं।

लेकिन अब हालात बदल रहे हैं। चीन के युवा मज़दूर अब चुपचाप बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं। भारत की तरह ही आज चीन के मज़दूरों में क़रीब 80 प्रतिशत 19 से 24 साल की उम्र के हैं और उनके बग़ावती तेवरों को उनकी बढ़ती संख्या से बल मिल रहा है। मज़दूर अपनी स्वतन्त्र यूनियनें बनाने की कोशिश कर रहे हैं। मैनेजमेण्ट और पार्टी नौकरशाहों द्वारा डराने-धमकाने तथा उत्पीड़न की कोशिशों के बावजूद मज़दूर अपनी जुझारू यूनियन के महत्त्व को समझ रहे हैं और उसके लिए लड़ रहे हैं।

इतना तो साफ़ हो गया है कि चीन की मेहनतकश जनता अपनी दुरवस्था को नियति मानकर झेलते रहने के लिए अब क़तई तैयार नहीं है। पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद चीन में तेज़ी से बढ़ता वर्ग ध्रुवीकरण यहाँ-वहाँ स्थानीय और क्षेत्रीय स्तरों पर वर्ग संघर्षों के रूप में लगातार फूटता रहा है। यह सिलसिला अब लगातार व्यापक और गहरा होता जा रहा है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस वर्ग संघर्ष को दिशा देने वाली विचारधारा और मनोगत शक्तियाँ भी, चाहे बिखरे रूप में ही सही, लेकिन परिदृश्य पर मौजूद हैं। स्थितियाँ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अन्तिम वर्षों के दौरान की गयी माओ की इस भविष्यवाणी को सत्यापित कर रही हैं कि "चीन में यदि पूँजीवादी पथगामी पूँजीवाद की पुनर्स्थापना में सफल हो भी गये तो वे कभी चैन से कुर्सी पर नहीं बैठ सकेंगे।" दस वर्षों तक चलने वाली चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने चीन की मेहनतकश जनता को समाजवादी समाज की दीर्घकालिक संक्रमणशील प्रकृति, उसमें जारी वर्ग-संघर्ष की दिशा, पार्टी और राज्य में पूँजीवादी पथगामियों की मौजूदगी और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लम्बे समय तक मौजूद रहने वाले ख़तरे के बारे में गहराई से शिक्षित किया था और यह स्पष्ट बताया था कि चीन में यदि पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो जाती है तो चीनी जनता को अविलम्ब पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ देना चाहिए। अब हालात बता रहे हैं कि चीनी जनता ने सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षा को भुलाया क़तई नहीं था।

चीन के मज़दूर संघर्षों की यह लहर अगर कुछ आंशिक सफलताएँ हासिल करने के बाद दबा भी दी जाये, तो भी इतना तय है कि चीनी मज़दूर अब जाग उठा है और कम्युनिज़्म के नाम पर जारी पूँजीवादी तानाशाही के नंगनाच को और बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। चीनी शासकों की तमाम लफ़्फ़ाज़ियों के बावजूद उनके असली चेहरे को अब वह पहचान चुका है। आने वाले वर्ष चीन में मज़दूर आन्दोलन के ज़बरदस्त उभार का साक्षी बनेंगे – और इसका असर पूरी दुनिया की पूँजीवादी व्यवस्था को हिलाकर रख देगा। ऐसा होना ही है।

– सत्यप्रकाश

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डॉ. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डॉ. दूधनाथ, सुखविन्दर** ● सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006** ● सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ